गेहूँ और गुलाब

गेहूँ और गुलाब

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

जनवाणी - प्रकाशन
१६१।१, हरिसन रोड, कलकत्ता–७

प्रकाशक
ज न वा णी - प्र का श न
१६।१।१, हरिसन रोड, कलकत्ता-७

प्रथम संस्करण
श्रावण, १९५०
मूल्य ५)

मुद्रक
श्री हजारीलाल शर्मा
जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता-७

पुस्तक • आन्दोलन

यह पुस्तक है और आन्दोलन भी।

पुस्तक, जिसमें मेरी कुछ नई कृतियाँ संग्रहीत हैं। मुख्यतः शब्दचित्र : जिनके लिए मुझे अनायास प्रसिद्धि प्राप्त हो गई है।

ये शब्दचित्र, पिछले शब्दचित्रों से भिन्न हैं—छोटे, चलते, जीवंत! मैंने कहा—हैंड कैमरा के स्नैपशॉट; आलोचक ने उस दिन डाँटा—हाथीदाँत पर की तस्वीरें!

इतनी हिम्मत नहीं कि आमीन कहूँ। आप ही देखें, दोनों में कौन हैं ये?

यह हुई पुस्तक।

और आन्दोलन—जो हमारा ध्यान भौतिकता की गहराई से उठाकर सांस्कृतिक धरातल की ओर ले जाय।

जो संघर्ष के बीच भी हमें सौन्दर्य देखने की दृष्टि दे।

पैर कीचड़ को ठेलते बढ़ रहे हों, किन्तु आखें इन्द्रधनुष पर जमी हों।

क्या कहा—पलायनवाद !

अरे, कहीं भागनेवाला भी इतनी दूर देख सकता है, इस तरह देख सकता है ?

अपने पैर मैं देख रहा हूँ—जरा तुम अपने भी देखो ?

कहीं वे ही तो पीछे नहीं भग रहे हैं !

मेरे नन्हे साथियो, कला के क्षेत्र को वाद-विवादों का अखाड़ा न बनाओ, अपने भीतर की गन्दगी से उसे गन्दा न करो !

सत्य ढूँढ़ो, शिव ढूँढ़ो, सुन्दर ढूँढ़ो।

सुन्दर—यहीं कला अन्य क्षेत्रों से पृथक् होती है !

जो सौन्दर्य देख सके, परख सके, तुम्हें ऐसे नेत्र मिलें, शीघ्र मिलें।

इसी कामना में—

श्रावण, १९५०

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

उन हाथों में

जिनमें

हथेलियों की जगह

मस्तिष्क

और

अंगुलियों की जगह

आँखें हों ;

और

जिनकी कलाइयों में

किसी प्रकार

की

जंजीर

न

हो ।

रामवृक्ष बेनीपुरी

अनुक्रमणिका

गेहूँ और गुलाब

गेहूँ बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते है, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस!

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे

गेहूँ और गुलाब

गेहूँ—उसकी भूख का काफ़िला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है ! गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ !

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग़ उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिये !

बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है ! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है !

× × × ×

किन्तु ; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर ? मानव को मानव बनाया गुलाब ने ! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी !

यही नहीं ; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम सङ्गीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर

ही वह तृप्त नहीं हुआ। उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनायी तुरही। मछली मारने के लिये जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप-छप में उसने ताल पाया, तराने छोड़े! बांस से उसने लाठी ही नहीं बनाई, वंशी भी बजाई!

रात का काला-घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिये नहीं कि अब पेट-पूजा की सामिधा जुटाने में उसे सहू-लियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः-शनैः प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणों से! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिये लाचार किया; इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रङ्गों में रँग दिया!

मानव-शरीर में पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सब से ऊपर! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं! जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की!

गेहूँ की आवश्यकता उसे है ; किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की ! उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं !

× × × ×

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का सम-तुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा !

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ सङ्गीत बँधा हुआ था और सङ्गीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गायें चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं !

किन्तु, धीरे-धीरे यह सम-तुलन टूटा !

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, थकानेवाले, उबाने-

बोल, नारकीय यंत्रणायें देनेवाले श्रम का—वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का; गन्दगी और गलीज़ का! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी!

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश!

वह परम्परा चली आ रही है! आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है!

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालन-कर्त्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर!

× × × ×

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार सम-तुलन स्थापित करें!

किन्तु, मानव क्या पीछे मुड़ा है; मुड़ सकता है?

गेहूँ और गुलाब

यह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा!

और क्या नवीन सम-तुलन चिर-स्थायी हो सकेगा? क्या इतिहास फिर दुहराकर नहीं रहेगा?

नहीं; मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर सम-तुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं!

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करें!

गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर-विजय! अब नये मानव की यह नई आकांक्षा हो!

क्या यह सम्भव है?

बिल्कुल, सोलह आने सम्भव है!

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गये हैं। यह गेहूँत्व

उसमें आता कहाँ से है, हम से यह भी छिपा नहीं है।

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रक्रिया से पौदों की बालियों में संग्रहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं। उन्हीं तत्वों की कमी, हमारे शरीर में, भूख नाम पाती है!

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई। हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्वों को सीधे क्यों नहीं ग्रहण करें?

यह तो अनहोनी बात—युटोपिया, युटोपिया।

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक विज्ञान संहार-काण्ड के लिये ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्यों ही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलक-वत् सिद्ध होकर रहेगी!

और; विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है!

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ा भी रहा है।

कम से कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना

पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ—हवा, पानी की तरह—इफ़रात हो जायँ ! बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म, आदि तो निकलने ही जा रहे हैं, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें !

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेवाले साधनों की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है !

× × × ×

प्रचुरता ?—एक प्रश्न चिह्न !

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है ?

'हमारा सोने का हिन्दोस्तान'—यह गीत गाइये ; किन्तु यह न भूलिये कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी ; जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे ; जो छः महीने सोती थी, जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तानिक भी झिझक नहीं थी ।

गेहूँ बड़ा प्रबल है—वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिये, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर आप को बहुत दिनों तक तबाह करना चाहेगा ।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिये क्या उपाय ?

अपनी वृत्तियों को वश में करने के लिये आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियों के संयमन की ओर वृत्तियों को उर्द्धगामी करने की !

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आये हैं । किन्तु, इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं—बड़े-बड़े तपस्वियों की लम्बी-लम्बी तपस्यायें एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गईं !

आज भी देखिये । गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं !

इसलिये उपाय एकमात्र है—वृत्तियों को उर्द्धगामी करना !

गेहूँ और गुलाब

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिये !

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की !

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं ।

× × ×

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही हैं—वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई हुई है !

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही ; राजनीतिक रूप में रक्त की धारा बहाती रही !

अब वह दुनिया आनेवाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे !

गुलाब की दुनिया—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत् ।

गेहूँ और गुलाब

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जँजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बसायेंगे !

जब गेहूँ से हमारा पिण्ड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे !

गुलाब की दुनिया—रङ्गों की दुनिया, सुगन्धों की दुनिया !

भौंरे नाच रहे, गूञ्ज रहे ; फुलसुँघनी फुदक रही, चहक रही !

नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह !

कहीं गन्दगी नहीं ; कहीं कुरूपता नहीं ! आँगन में गुलाब ; खेतों में गुलाब ! गालों पर गुलाब खिल रहे ; आँखों से गुलाब झाँक रहा !

जब सारा मानव-जीवन रङ्गमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा !

वह दिन कब आयगा ?

गेहूँ और गुलाब

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे ? कैसी आँखें हैं आपकी ! शायद उनपर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है । पर्दे को हटाइये और देखिये वह अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही !

शौके दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर !
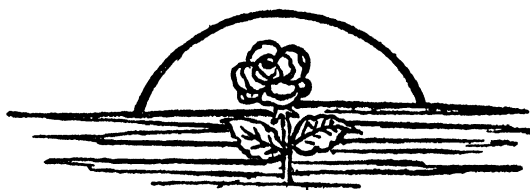
जहाज जा रहा है

खड़खड़-खड़खड़, धमधम-धमधम——गङ्गा में यह जहाज चला जा रहा है।

सामने कुछ बच्चे, किनारे-पर खड़े, उत्सुकता से एक-एक यात्री को पहचानने की कोशिश में हैं। उस बङ्गले में, कुछ बाबू इजीनेयर पर बैठे, सिगार का धुआँ उड़ा रहे हैं, घाट पर स्नानार्थियों की भीड़ है और गङ्गा में यह जहाज चला जा रहा है।

कब से यह पीपल का पेड़ किनारे पर खड़ा है? उसकी जड़ों को गङ्गा माई कब से धोती आई हैं? उसके पत्तों को मेघ ने अभी-अभी धो डाला है और अब हवा उन्हें दुलरा रही है। उसके नीचे मिट्टी के देवता हैं जिन पर पड़े फूल, अच्छत और सिन्दूर यहाँ से

ही दिखाई पड़ते हैं। हनुमान जी की लम्बी ध्वजा, सघन पत्तों में, न जाने कहाँ छिप गई है। एक बूढ़ा ब्राह्मण थरथर काँपता, होंठ बुदबुदाता, पीपल की जड़पर पानी दे रहा है और यह जहाज गङ्गा में चला जा रहा है।

पानी में हिलकोरे हैं, गिर्दाव हैं, फेन हैं, तिनके हैं, और यह जहाज मस्ती में चला जा रहा है।

वह दो मछुए नाव पर मछली मार रहे हैं—एक की कमर में लाल लङ्गोट और सिर में उजला अँगोछा लिपटा ; दूसरे की कमर में उजला लंगोट, लेकिन सिर पर लाल अँगोछा। जाल को पानी से बाहरकर झाड़ रहे हैं दोनों। छोटी-बड़ी मछलियाँ जाल के बीच में सिमटती जा रही हैं। किन्तु; यह क्या ? एक बड़ी मछली जाल से उछली, हवा में तैरती-सी पानी में छप-सी जा गिरी और यह जहाज अपनी ही गति में हड़हड़ करता बढ़ता जा रहा है।

सामने वह ऊँचा गोलघर का मुँडेरा है और दूसरी ओर बनवार चक के लम्बे-लम्बे ताड़ हैं। एक ओर अट्टालिकाओं की चमकती पाँते, दूसरी ओर ऊँघते-से झोपड़े। एक ओर पुख्ता ईंटों की बनी शानदार सीढ़ियाँ, दूसरी ओर कटे खेत, उजड़े गाँव, गिरे-

अधगिरे घर ! ऊपर धुआँ बादल बनाता चल रहा है और नीचे यह जहाज जा रहा है ।

जहाज के पेट में कोलाहल है, पीठ पर कोलाहल है । निचले हिस्से में थर्ड क्लास के यात्री खचाखच भरे हैं, ऊपर डेक पर कुछ सुफेदपोश चहलकदमी कर रहे हैं । यह जहाज नहीं जानता कि वह हमारे समाज का कितना सही प्रतिनिधित्व करता है,—वह तो बढ़ा चला जा रहा हैं ।

यह क्या जल रही है ? चिता, चिता, चिता ? हाँ, तीन चितायें पंक्तियों में ! लोग इतना मरते हैं ? किन्तु, शायद आप जिन्दों की गिनती भूल गये हैं ! तो भी मरण कितना निठुर, जीवन कितना मधुर ! और, जीवन-मरण दोनों से उदासीन वीतराग-सा यह जहाज चला जा रहा है !

उफ, यह लाश भँसी जा रही है । स्त्री की है । बड़े-बड़े बाल पानी पर लहरा रहे हैं । पेट के बल पड़ी है ; पीठ और कमर के नीचे के कुछ भाग रह-रहकर नीचे-ऊपर हो रहे हैं । सुफेद-सुफेद चमड़ी । एक कौआ उस पर बैठने के लिये हवा में पर तोल रहा है । वह लपका, वह बैठा, वह चोंच चलाई—वीभत्स । और
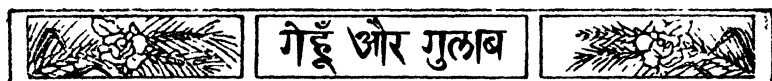
वह देखिये, पानी भरने को काँख में कलसी लिये, तुरत आई युवती किस भय-त्रस्त दृष्टि से यह दृश्य देख रही है। अच्छा है, जहाज तेजी से आगे बढ़ा जा रहा है।

पुरवा हवा उठी—नजदीक पड़ाव से नावों की एक लम्बी पाँत पाल उड़ाती रवाना हुई। मांझी डोर पकड़े, पाल की गति और दिशा स्थिर कर रहे हैं; तरङ्गों को कुचलती, चीरती ये नावें जैसे फुर्र-फुर्र उड़ी जा रही हैं, और उनकी क्षिप्र गति से हतप्रभ हमारा यह विशाल जहाज मन्थर गति से भँसा जा रहा है।

यह जहाज कहाँ जा रहा है? हम कहाँ जा रहे हैं? यह गङ्गा कहाँ जा रही है? ये नावें कहाँ जा रही हैं? वह लाश कहाँ गई? जगताम् जगत् है यह; सब में गति है, सब को चलना है, बढ़ना है, जाना है। हमारा जहाज भी जा रहा है; जा रहा है

चरवाहा !

और, वह कण्डे की आगी में कोई चीज भून रहा है !

सामने तीन बकरियाँ, जिनमें से एक के मोटे थन से एक पटेरू लटक रही ; थोड़ी दूर पर एक गाय चर रही और एक बछ्वा गर्दन को पेट में घुसेड़े सो रहा ; दाहिनी ओर एक बुढ़िया घास छील रही ; और ; वह कण्डे की आगी में कोई चीज भून रहा है !

पूरबा हवा आग की धधक को रह-रह कर बढ़ा देती है ; वह लकड़ी से कण्डे पर रखी चीज को उलट-पुलट देता है ; आग की दहक से चेहरा झुलस रहा है उसका ; लेकिन उस पर उल्लास-ही-उल्लास नाच उठता है रह-रह !—वह बड़े प्रेम से कण्डे की आगी में कोई चीज भून रहा है जो !

दूर पर कई खेतों में हल चलाये जा रहे हैं और ढोरों का एक बड़ा झुण्ड, ऊपर की परती में; चर रहा है ; नदी-कछार, झौआ के बन में, हिलोर है, हहास है । अभी एक बटेर फुर से उड़ गयी है हवा को तेज पङ्खों की आरी से चीरती-सी ; गाँव की धुँधली छाया की पृष्ठभूमि में दो ताड़ के पेड़ गर्वोन्नत मस्तक उठाये झूम रहे हैं ; और वह बड़े जतन से कण्डे की आगी में कोई चीज भून रहा है ।

सूखे हुए नाले में एकाकी बगुला उदास खड़ा है ।—कटे हुए गेहूँ के खेत में शून्यता ही शून्यता है ; और, वह बड़े आनन्द से कण्डे की आगी में कोई चीज भून रहा है !

यही दस साल का होगा वह । प्रकृति ने कैसा क्रूर मजाक किया है उसके चेहरे से—न रङ्ग न रूप ; काला भूत ! निकला हुआ पेट मानो उसकी शाश्वत बुभूक्षा का डङ्का पीट रहा है ! सूखी टाँगों को फैलाये, मोटे होठों से लार टपकाता, भद्दी उँगलियों से वह कण्डे की आगी पर कोई चीज भून रहा है ।

अभी सड़क से बस गुजरी है—खचाखच भरी हुई ! एक भारी भरकम सेठ-दम्पति, कम उम्र रिक्शेवाले का कचूमर निकालते, वह

चले जा रहे हैं। बैलगाड़ी पर ऊँघते गाड़ीवान के मुँह से बिरहा की कड़ी टूट-टूट कर रह जाती है। सड़क पर इतने लोग क्यों चलते हैं और सबके पैर इतनी तेजी से क्यों उठा करते हैं? क्या शहर में लड्डू बँटते हैं? बँटा करें—वह तो कण्डे की आगी पर कोई चीज भूनने में ही मगन है?

चीज शायद भुना गई। लार पतली होकर चू-चू पड़ती है। कण्डे से निकली चीज को वह तलहथी पर लेता है—तलहथी जल रही है; किन्तु, इस नायाब चीज को फेंके तो कैसे? चट मुँह में रख लेता है। किन्तु, इतनी गर्मी जीभ को भी बर्दाश्त नहीं! दो-एक बार, मुँह खोलकर, हवा लेने की कोशिश करता है; किन्तु कण्डे की आगी में भुनी हुई चीज की आग कम नहीं हो रही! क्या थूक दे? नहीं, नहीं—यह भूल उससे नहीं होगी! वह निगलने की कोशिश कर रहा है!

काली पेशानी पर पसीना-पसीना है; साँस फूल रही है, कण्ठ जल, झुलस रहा है; नाक में सोंधी गन्ध है, कान में साँय-साँय आवाज! जीभ का पानी कहाँ सूख गया कमबख्त? वह निगले तो कैसे—उगले तो कैसे? आँखों में अब पानी-पानी है—यह पानी जीभ पर क्यों नहीं आता?

गेहूँ और गुलाब

अभी-अभी एक चील सर के ऊपर मँडड़ाकर चली गई है और दो कौवे उसके सामने काँव-काँव करते, अपनी हिस्सेदारी की याद उसे दिला रहे हैं; और वह कण्डे की आगी में भुनी हुई उस नायाब चीज को जैसे-तैसे निगलकर कैसी तृप्ति की साँस ले रहा है!

फुलसुंघनी !

अरे रे, यह कौन मेरे गेंदे का बाग उजाड़ रही है !

गेंदा—क्या इसमें सिर्फ गोलाई है जो इसका नाम 'गेंद' के वजन पर 'गेंदा' रख दिया गया ? इससे तो इसका अँग्रेजी नाम अच्छा—'मेरी गोल्ड' !

किन्तु, कौन है यह—जो मेरे सोने को धूल में मिलाए जा रही है ?

गेंदे का यह छोटा-सा झाड़, बिल्कुल फूलों से लदा। कहीं पत्तियाँ भी आप नहीं पावेंगे। सोने की शतशः गेंदे आप से आप उछल रही हैं, लुढ़क रही हैं, नाच रही हैं—हवा के एक छोटे-से झोंके के इशारे पर !

अरे, यह कौन उसका सर्वनाश कर रही है ?

कहीं से फुलसुँघनी का एक जोड़ा आ पहुँचा। फुलसुँघनी के जोड़े को कभी देखा है आपने ?

एक इञ्च से भी छोटी, वजन में शायद एक बड़े पतंगे के बराबर—यह छोटी-सी काली-काली चिड़िया अपने में कितनी उमङ्ग रखती है ! पन्न-पन्न करती, हर सेकेण्ड पर अपनी गति बदलती, छोटी चोंच से सुरीली चें-चें करती, ज्यों ही फूल देखा कि टूट पड़ी उस पर ! अपनी चोंच से पंखुड़ियों की जड़ पकड़कर एक झटका देती है, उसका रस पी लेती है, फिर गिरा देती है। देखिये न, आपके देखते-देखते एक पूरे फूल की पंखुड़ियाँ नोंच डालीं इस जोड़े ने।

गेंदे के झाड़ के नीचे पीली-पीली, सुनहली-सुनहली पंखुड़ियों का अम्बार-सा लगता जाता है।

× × × ×

अब शायद दोनों के पेट भर गये। दोनों उड़ीं—एक हल्की-सी फुर्र ! विलायती मटर को सहारा देने के लिए खड़ी की गई कमाची पर जा बैठीं दोनों। सट-सटकर ! दो-एक बार चोंच से पाँखें

खुजलाई। भोर को सूरज की किरणों में इनकी गहरी काली आँखें किस तरह चमक रही हैं,—इन्द्रधनुषी हो रही हैं!

एक उड़ी—एक हल्की-सी चें-चें के साथ! दूसरे ने अनुगमन किया—सुबुक फुर्र के स्वर में।

चें-चें! फुलसुँघनी के जोड़े हवा को तरङ्गित करते उड़े जा रहे हैं—फुर्र-फुर्र!

मेरे गेंदे के बाग को सर्वनाश में मिलाकर, फुलसुँघनी के जोड़े, वह देखिये, उड़े जा रहे हैं!

तितलियाँ

समूचा पार्क मुखरित हो गया !

दो तितलियाँ आईं और सारा पार्क रङ्गीन, रसमय, उच्छ्वासित और मुखरित हो उठा।

तितलियाँ दूब पर दौड़ीं, फूलों को चूमा, बेंच पर बैठीं, कुछ गुनगुनाईं, फुसफुसाईं, इधर-उधर नजरें दौड़ाईं—

सारी आँखें उनकी तरफ़ !

छाती फूल उठी, साँस जोर से आने लगी ; ओ हो, सारी आँखें मेरी ओर !

गेहूँ और गुलाब

दोनों ने अलग-अलग यही सोचा !

लीली, जरा यह तो देखो !

शबनम, जरा सुनो तो !

एक के अधर दूसरे के गाल के नजदीक ! कान-कान में कुछ कहा गया—

क्या कहा गया ?

धत्त.........

एक तितली भागी जा रही, दूसरी तितली पीछा कर रही ।

दूब कुचल गई, फूल शरमा गए, बेंच खाली पड़ी है—

किन्तु; पार्क अब भी उच्छ्वसित है, मुखरित है !

नथुनिया

'यह क्या खा रहा है रे ?'

सिर के मुँड़े हुए छोटे-छोटे बालों के रङ्ग से चेहरे का रङ्ग प्रतियोगिता करता हुआ। बालों ने चारों ओर से जिस पर मुदाखलत-बेजा कर रखी हैं, वह छोटा-सा ललाट, चिपटा-सा। ललाट की कालिमा में पतली भौंओं की रेखा खोई-खोई-सी। छोटी-छोटी आँखें—जिनका पीला रङ्ग राजेन्द्र बाबू की आँखों की याद दिलाता है। आँखों के चारों कोरकों पर पीली-पीली घिनौनी कीचड़। गाल की हड्डियाँ उभड़ीं। नाक का नुकीला अग्रभाग पतले अधरों को ढँकता-सा। इस नाक में, प्रसूतिगृह में ही, बूढ़ी दादी ने पीतल की नथुनी डाल

दी थी—कहीं उसके इस पितृहीन एकलौते पोते को डायन-जोगन की नजर न लग जाय।

'यह क्या खा रहा है रे?'

सुनकर मेरी ओर ताका—दस गर्मी, जाड़ा, बरसात की झुलस, हड़कम्प और झकोरे का मारा उसका चेहरा खिलता-सा नजर आया! बड़े फख्र से हाथ के टुकड़े को मुँह में डालता हुआ वह भारी आवाज में बोला—

'मक्के की रोटी है, बाबू!'

नींव की ईंट

वह जो चमकीली, सुन्दर, सुघड़ इमारत है; वह किस पर टिकी है ? इसके कंगूरों को आप देखा करते हैं, क्या कभी आपने इसकी नींव की ओर भी ध्यान दिया है ?

दुनिया चकमक देखती है, ऊपर का आवरण देखती है; आवरण के नीचे जो ठोस सत्य है, उस पर कितने लोगों का ध्यान जाता है ?

ठोस 'सत्य' सदा 'शिवम्' होता ही है ; किन्तु, वह हमेशा 'सुन्दरम्' भी हो, यह आवश्यक नहीं ।

सत्य कठोर होता है ; कठोरता और भद्दापन साथ-साथ जन्मा करते हैं ।

हम कठोरता से भागते हैं, भद्देपन से मुख मोड़ते हैं—इसीलिए सत्य से भी भागते हैं।

नहीं तो, हम इमारत के गीत, नींव के गीत से प्रारम्भ करते।

वह ईंट धन्य है, जो कट-छँटकर कंगूरे पर चढ़ती है और बरबस लोक-लोचनों को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

किन्तु, धन्य है वह ईंट, जो जमीन के सात हाथ नीचे जाकर गड़ गई और इमारत की पतली ईंट बनी!

क्योंकि इसी पहली ईंट पर उसकी मजबूती, और पुख्तेपन पर सारी इमारत की अस्ति-नास्ति निर्भर करती है।

उस ईंट को हिला दीजिये, कंगूरा बेतहाशा जमीन पर आ रहेगा।

× × × ×

कंगूरे के गीत गानेवाले हम; आइये, अब नींव के गीत गायें!

वह ईंट जो जमीन में इसलिए गड़ गई कि दुनिया को इमारत मिले, कंगूरा मिले!
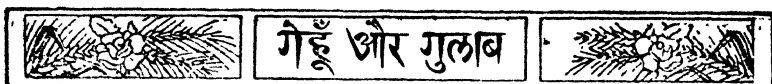
वह ईट, जो सब ईटों से ज्यादा पक्की थी, जो ऊपर लगी होती, तो कंगूरे की शोभा सौगुनी कर देती !

किन्तु, जिसने देखा, इमारत की पायदारी उसकी नींव पर मुनहसर होती है ; इसलिए उसने अपने को नींव में अर्पित किया।

वह ईट, जिसने अपने को सात हाथ जमीन के अन्दर इसलिए गाड़ दिया कि इमारत जमीन के सौ हाथ ऊपर तक जा सके।

वह ईट, जिसने अपने लिए अन्धकूप इसलिए कबूल किया कि ऊपर के उसके साथियों को स्वच्छ हवा मिलती रहे, सुनहली रोशनी मिलती रहे।

वह ईट, जिसने अपना अस्तित्व इसलिए विलीन कर दिया कि संसार एक सुन्दर सृष्टि देखे।

× × × ×

सुन्दर सृष्टि ! सुन्दर सृष्टि, हमेशा ही वलिदान खोजती है, वलिदान ईट का हो या व्यक्ति का !

सुन्दर इमारत बने, इसलिए कुछ पक्की-पक्की लाल ईटों को चुपचाप नींव में जाना है।

सुन्दर समाज बने, कुछ तपे-तपाये लोगों को मौन-मूक शहादत का लाल सेहरा पहनना है ।

शहादत और मौन-मूक ! जिस शहादत को शुहरत मिली, जिस बलिदान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई, वह इमारत का कंगूरा है—मन्दिर का कलश है !

हाँ, शहादत और मौन-मूक ! समाज की आधारशिला यही होती है ।

ईसा की शहादत ने ईसाई-धर्म को अमर बना दिया, आप कह लीजिये ! किन्तु, मेरी समझ से, ईसाई-धर्म को अमर बनाया उन लोगों ने, जो उस धर्म के प्रचार में अपने को सनाम उत्सर्ग कर दिया !

उनमें से कितने जिन्दा जलाये गये, कितने शूली पर चढ़ाये गये ; कितने रनबन की खाक छानते जंगली जानवरों के शिकार हुए, कितने उससे भी भयानक जन्तु के भूख-प्यास के शिकार हुए ।

उनके नाम शायद ही कहीं लिखे गये हों—उनकी चर्चा शायद ही कहीं होती हो ।

किन्तु, ईसाई-धर्म उन्हीं के पुण्य-प्रताप से फल-फूल रहा है !

५

वे नींव की ईंट थे, गिरिजाघर के कलश उन्हीं की शहादत से चमकते हैं !

आज हमारा देश आजाद हुआ सिर्फ उनके बलिदानों के कारण नहीं, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है !

देश का शायद ही ऐसा कोना हो, जहाँ कुछ ऐसे दधीचि नहीं पाये गये हों, जिनकी हड्डियों के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया !

हम जिसे देख नहीं सकें, वह सत्य नहीं है, यह है मूढ़ धारणा ! ढूँढ़ने से ही सत्य मिलता है ! हमारा काम है, धर्म है, ऐसी नींव की ईंटों की ओर ध्यान देना !

× × × ×

सदियों के बाद नये समाज की सृष्टि की ओर हमने पहला कदम बढ़ाया है !

इस नये समाज के निर्माण के लिये भी हमें नींव की ईंट चाहिए।

अफसोस, कंगूरा बनाने के लिये चारों ओर होड़ाहोड़ी मची है, नींव की ईंट बनने की कामना लुप्त हो रही है !

गेहूँ और गुलाब

सात लाख गाँवों का नव निर्माण ! हजारों शहरों और कारखानों का नव निर्माण ! कोई शासक इसे सम्भव कर नहीं सकता ! जरूरत है ऐसे नौजवानों की, जो इस काम में अपने को चुपचाप खपा दें !

जो एक नयी प्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नयी चेतना से अभिभूत ; जो चुनावों से दूर हों, दलबन्दियों से अलग ।

जिनमें कंगूरा बनने की कामना न हो, कलश कहलाने की जिनमें वासना न हो । सभी कामनाओं से दूर—सभी वासनाओं से दूर ।

हमारा उदय के लिए आतुर समाज चिल्ला रहा है—हमारी नींव की ईंट किधर है ?

देश के नौजवानों को यह चुनौती है !

पुरुष और परमेश्वर

पुरुष और परमेश्वर में महत्ता किसकी——यह विवाद आज का नहीं, आदि युग से चला आ रहा है ! एक पक्ष ने कहा——मैं ही सब कुछ हूँ, और संसार मेरा है । दूसरे ने कहा—यदि वह कहीं हो भी, तो वह मैं ही हूँ । और तीसरे ने आत्मार्पण किया——जो कुछ हो, तुम्हीं हो ! तुम्हारी शरण हूँ, चाहे जो उपयोग करो ।

एक ने कहा—भगवान ने अपने रूप में मनुष्य का निर्माण किया ।

दूसरे ने कहा——मनुष्य ने अपने रूप में भगवान की रचना की ।

जब मनुष्य ने सपनाना सीखा, ईश्वर का प्रारम्भ तभी से हुआ ।

ज्यों-ज्यों सपनों में वृद्धि हुई, भगवान की महत्ता में भी वृद्धि होती गई।

सपने धुँधले पड़ रहे हैं; भगवान भी धुँधला पड़ता जा रहा है।

सपनों में परिवर्त्तन ;—भगवान में परिवर्त्तन !

अतीतकाल के मानव को एक भगवान से सन्तोष नहीं था—वह अनेक भगवान खोजता रहा।

उसने अनेक भगवान खोजे—उसे अनेक भगवान मिले।

पृथ्वी की नन्ही दूब से लेकर आकाश के इन्द्रधनुष तक में भगवान-भगवान ही देखे।

भगवान के पीछे वह इतना पागल हुआ कि अर्धचेतन अवस्था में उसने अपने को भी भगवान ही मान लिया।

उसके भगवान बने उसके वे विश्वास, जिनके बिना वह जी नहीं सकता था।

उसके भगवान बने उसके वे भय, जिनसे बढ़कर स्थूल सत्य उसे और कुछ नहीं मालूम होता था।

भगवान को आदमी ने बनाया, यह कहना उतना ही गलत है, जितना यह सुनना कि भगवान ने आदमी को बनाया।

आदमी हमेशा भगवान की खोज में रहा है, और हमेशा उसकी खोज में रहेगा।

भगवान एक सपना है।

भगवान एक आकाँक्षा है, जिससे मानव-जीवन ओतप्रोत बना है।

जीवन एक सपना है, जिससे हम ओतप्रोत बने हैं।

अपने सपने का ही नाम हमने आत्मा दे रखा है।

इसीलिए आत्मा हमेशा भगवान का सपना देखती रहती है।

जैसा आत्मा का सपना, उसी रूप का उसका भगवान।

× × × ×

ध्यानावस्थित होकर, एकान्त में; मानव खड़ा था अपने संसार को भूला हुआ। अपना संसार—वह आप भी उसे समझ नहीं सकता था। विस्मय में, भय में वह चिल्ला उठा—

गेहूँ और गुलाब

"भगवन् ! मेरी सहायता करो । तुम्हारे बिना मेरा सहायक कौन है ? मुझे ज्ञान दो—क्योंकि तुम्हीं ज्ञान के आगार हो ! प्रकाश दो—क्योंकि तुम्हीं तो प्रकाश-पुंज भी हो ।

मानव चिल्लाता रहा ; भगवान चुप रहा ।

मानव ने खेती प्रारम्भ की । बड़े यतन से, श्रम से उसने खेत जोते ; किन्तु वर्षा हो नहीं रही थी, वह चिल्ला उठा—

"भगवन्, मेरी सहायता करो । अपने बादलों को मेरे खेत में बरसने की आज्ञा दो ।"

उत्तर में सूखी झंझा बहती रही ।

मानव ने युद्ध-भूमि के चक्र-व्यूह में अपने को प्रतिद्वन्द्वी मानव के सामने पाया । भय से वह चिल्ला उठा—

"भगवन्, भगवन्, मेरी सहायता करो । इस नर-पिशाच के सम्मुख मेरी रक्षा करो, मुझे विजयी बनाओ । रघुवर, तुमको मेरी लाज !"

युद्ध-भूमि में रुण्ड-मुण्ड बिखरे थे—वीरों की लोथ पर चील-कौवे भोज मना रहे थे !

आत्मा के स्वप्न देखनेवालों को परमात्मा इन्हीं रूपों में प्राप्त होते रहे हैं।

यदि कभी वर्षा हो गई; विजय मिली—तो फिर स्वप्न को सत्य क्यों नहीं मान लिया जाय? "भगवन्, तुम महान हो!" "भगवान मेरे रक्षक हैं, फिर डर किसके?" "राखनहार भये भुज चार तो का होइहैं दो भुजा के बिगारे?"

प्रार्थना! यज्ञ! यज्ञ! प्रार्थना!

भगवान में मानव इतना भूला कि वह मानव को ही भूल गया। पुराने पैगम्बर ने चिल्लाकर कहा—

"खुदा ने कहा—"उस आदमी पर अभिशाप, जो आदमी पर विश्वास करता है और जिसका हृदय भगवान से अलग रहता है।"

आदमी पर अविश्वास, भगवान में विश्वास। किन्तु, जब आदमी पर विश्वास नहीं, तो भगवान पर कैसे विश्वास हो? क्योंकि भगवान और आदमी आखिर एक ही सिक्के के दो रूप हैं न!

× × ×

मानव-कल्पना का ही रहस्यवादी प्रतीक है भगवान की कल्पना।

विशुद्ध भगवान का अर्थ है, विशुद्ध मानव।

स्वप्न-भगवान का अर्थ है, स्वप्न-मानव।

सर्व सत्ताधारी भगवान वह निरंकुश राजा है, जो प्रजा का उत्पीड़न या शोषण करता है।

सर्वज्ञ भगवान वह पुरोहित है, जो जनता के अज्ञान पर अपना व्यापार चलाता है।

राजनीति में भगवान का काम षड्यन्त्र करना है; सम्पत्ति में भगवान का काम अधिकाधिक को दरिद्र बनाना है।

मानव ने भगवान को अपने से महान कभी नहीं बनाया।

× × ×

मानव ने महान और सुन्दर भगवान बनाये हैं—इससे मानव की महान और सुन्दर शक्तियों का पता चलता है।

जब मानव आँधी, अन्धकार या प्रकाश की अभ्यर्थना या

उपासना करता था, वह अपने प्रति ज्यादा ईमानदार था, वह अधिक सरल था, उसके ज्ञान पर पर्त नहीं पड़ी थी।

जब उसने इन में देवत्व या ईश्वरत्व की कल्पना की, वह भूल-भुलैया में फँसा।

जब तक मानव-मस्तिष्क कल्पना के फेर में है, हर पदार्थ उसके सामने काल्पनिक रूप पकड़कर आया करता है। मानव-चक्षु से पर्दा हटने दीजिये; वह सब कुछ स्पष्ट देखने लगेगा। मानव-मन जब स्वाभाविकता को स्वभावतः ग्रहण करने में सक्षम हो जायगा, सभी काल्पनिक देव आप से आप काफूर हो जायँगे।

मानव-विचार में असीम बल है। आदमी जैसा सोचता है, संसार को उसी के अनुरूप ढलना होता है। वह संसार को अपने निकट बुलाता है, उस पर अपना मंत्र पढ़ता है, संसार उसके सामने कर-बद्ध प्रार्थी होता है। अपने विचार-बल से मानव संसार की सृष्टि करता है।

जब तक मानव स्वयं मानव के संहार में लीन है, वह ऐसे भगवान की सृष्टि करेगा ही, जो संसार का संहारकर्त्ता है। कर्त्ता और भर्ता के रूप में भी वह भगवान बनाता है; कर्त्ता, वह जो

नब्बे अभागे और दस भाग्यवान की सृष्टि करे; भर्ता, जो गरीबों का पालन करे, जिसमें वे धनियों के पैर दबावें।

समाज के विचार ही भगवान के विचार हैं। समाज की आत्मा ही भगवान की आत्मा है—जनता का दृष्टिकोण ही भगवान का दृष्टिकोण हुआ करता है।

भगवान-निर्माता के रूप में मानव ने अपनी अपरम्पार प्राकृतिक शक्ति का परिचय दिया है।

अब वह मानव-निर्माता के रूप में अपने कौशल का परिचय दे।

अब मानव, मानव की उपासना करे, मानव की वन्दना करे। भगवान की स्तुतियाँ बहुत हुईं; हमारी कविता और गीत अब मानव की अलिखित यशोगाथा को छन्दोबद्ध करें। मानव की ही खोज में मानव की साधना दौड़े—उच्छ्वसित, चञ्चल, क्रियाशील मानव-मस्तिष्क अपने ही लिए अपने को पुष्पित और फलित करे।

शोधक, अन्वेषक, कवि और दार्शनिक मानव ने राह चलते कितने देव और ईश्वर बनाये। अब वह अपने लक्ष्य के निकट आ पहुँचा है,—वह मानव का निर्माण करे!

मानव, जिसकी शक्तियों के समक्ष छप्पन कोटि देव और देवादि-देव भगवान भी नत-मस्तक हों !

× × × ×

हम फिर सपने देखें। सपना देखना कोई लज्जा की बात नहीं।

आज की दुनिया में बहुत-से सपने देखने को हैं—नये सुनहले सपने !

हमें एक नवीन सौन्दर्य का सपना देखना है—नये दिन और उसके नूतन कर्त्तव्यों के, उसके नये प्रयत्नों और नये साहसों के सौन्दर्य्य का सपना देखना है।

हमें लज्जित नहीं होना है। लज्जित नहीं होना ही, नये मानव के लिए, एक नई कला है। लज्जित नहीं होना ही, उस नये संगीत का शिलान्यास देना है, जो मानव-हृदय के स्वाभाविक उच्छ्वासों का प्रतीक होगा।

मानव की शक्ति के तीन सपने हैं—

काम करने का सपना;

रात का सपना;

छलना का सपना;

इन सपनों में एक ही अमर सपना है—काम करने का सपना। सृजनात्मक शक्ति का यही सच्चा सपना है। इस सपने का ही नाम जीवन है।

चाहिए ऐसा सरल-स्वभाव—
मानव, जिसमें सरल साहस हो ;
मानव, जिसमें सरल धुन हो ;
मानव, जिसमें मानवोचित अनुभूति हो ;
मानव, जो सीधा देखे ;
मानव, जो सीधा सोचे ;
सरल मानव, जो सीधा काम करे !

चाहिए जीवित मानव—जो हमें मृत्यु से बचावे ! परमात्मा की ओर हमने बहुत देखा ; अब अपने पुरुषार्थ की ओर देखें।

ये मनोरम दृश्य

मनुष्य प्रकृति की गोद में जन्म लेता, पलता, बढ़ता और अन्त में, उसीके शान्त अञ्चल के नीचे, शाश्वत निद्रा में सदा के लिए सो जाता है। प्रकृति के साथ उसका इतना निकटतम सम्बन्ध होता है कि वह उसकी करोड़ों खूबियों को महसूस भी नहीं कर पाता। नहीं तो, उसके पैर के नीचे उगनेवाली दूब की हरी फुनगियों से लेकर उसके सिर के ऊपर लटकनेवाले नीले अम्बर के चकमक रत्नों तक में ऐसी सौन्दर्य-राशि भरी पड़ी है कि वह सारी जिन्दगी उन्हें देखने में ही गुजार दे और तब भी बोले—"आह! इतना देखना रह ही गया!"

लेकिन, इस निकटता से पैदा होनेवाली अवमानना के बावजूद,

सहस्त्र-सहस्त्र कर्मकोलाहलों में रहते हुए भी, मनुष्य का कभी-कभी ऐसे मनोरम प्राकृतिक दृश्यों से सामना हो जाता है, जो उसके दिमाग में स्थायी छाप छोड़ जाते हैं, जो न भुलाये भूलें, न बिसराये बिसरें। साधारण समयों में वे भूल भी जायँ, लेकिन जब कभी वह एकान्त में होता है, ऐसी दृश्यावली उसकी आँखों में झलमल कर उठती है और वह वाह्य जगत् को सर्वथा विस्मृत कर समझने लगता है, आज भी जैसे उन्हीं दृश्यों को देख रहा हो और देख-देखकर मुग्ध होता हो। कुछ ऐसे ही दृश्यों को, आज मैं, यहाँ जेल के इस एकान्त कोने में, कलम-बन्द करने की कोशिश कर रहा हूँ।

चपला की चमक

ऐसे दृश्यों में, जो सब से ताजा है, फलतः जिसका प्रभाव सब से अधिक है, पहले उसी का उल्लेख। चपला की चमक, बिजली की कौंध पर बहुत-सी कविताएँ पढ़ी थीं, बहुत-से प्रेमगीत सुने थे—उधर बिजली चमकी, इधर प्रेयसी का दिल तड़पा! महाकवि कालिदास की यक्ष-प्रिया भी उसकी तड़प से मूर्च्छित हो चुकी है, तो साधारण नायिकाओं का क्या कहना! घने-काले बादलों में बिजली की छटा क्षण-क्षण छुपने और प्रकट होनेवाली उजली-पतली रेखा के सौन्दर्य्य ने कुछ भावुक सिनेमावालों को भी काफी आकृष्ट

किया है ; मैंने कई भारतीय रजत-पटों में उसके सौन्दर्य्यानुकरण की चेष्टा देखी है । कितनी ही बार मैं भी बिजली की कौंध देखता, कितनी देर तक, मन्त्र-मुग्ध-सा रह गया हूँ । किन्तु, अभी हाल ही में मैंने जो बिजली का सौन्दर्य्य देखा, वह उन सभी दृश्यों में अपूर्व था, अद्भुत था और था अनुपम ।

लहेरियासराय की बात है । शाम हो चली थी ! मैं कलाकार उपेन्द्र महारथी के वास-स्थान की ओर जा रहा था । ज्यों ही पुस्तक-भण्डार से आगे, उत्तर की ओर जानेवाली सड़क पर मुड़ा, सामने के आसमान ने हमारी आँखों को बरबस अपनी ओर खींच लिया । पैर सड़क पर, भीड़-भाड़ और कोलाहल से भरी सड़क पर पड़ रहे थे और आँखें ऊपर आसमान पर अड़ी थीं । उफ, कैसी दृश्यावली ! उत्तर दिशा के समूचे आसमान पर, पश्चिम कोने से पूरब कोने तक गहरे-घने बादल छाये हुए हैं । उन बादलों की काली पृष्ठभूमि पर बिजली, मानो एक परी की चपल गति से नृत्य कर रही हो । अभी यहाँ, पश्चिम कोने पर उसके घाँघरे की जरदार किनारी चमकी, पलक गिरते वह ठीक-ठीक मेरी नाक की सीध में आकर, विभ्रमकारी गति से नाच उठी ; फिर एक छलाँग लेती वह पूरब कोने पर पहुँच गयी, जहाँ उसकी एक मुस्कान से नीला आसमान उजला-उजला हो रहा ।

फिर मुड़ पड़ी—नाचती, हँसती। कभी ऊपर उछल गयी, कभी नीचे सिमट गयी। कभी ठिठक गयी, कभी ठठा पड़ी। यहाँ-वहाँ, इधर-उधर। इसका पीछा करने में आँखे भी समर्थ नहीं।

बादलों के बीच यह बिजली की चमक है, या स्वर्ग में सहस्र परियों का नृत्य एक साथ ही हो रहा है। क्योंकि अब तो पल-पल उनकी गति इतनी चपल होती जाती है कि एक परी की कल्पना की नहीं जा सकती! पूरब कोने से पश्चिम कोने तक की इस शत-सहस्र मील की लम्बी रंग-भूमि के कोने-कोने को, जो विहँसित-चमत्कृत कर रही है, वह एक परी हो नहीं सकती। विहँसित, चमत्कृत और मुखरित भी! हाँ, सुन रहा हूँ, रह-रहकर मञ्जीर का शिंजन और किसी चतुर वादक के मृदंग का गम्भीर रव भी! किन्तु, स्वर्ग कहाँ है? परियाँ झूठ हैं या सच—कौन बतावे? क्या बूढ़े हिमालय को ही आज युगों के बाद कुछ रास-रंग का शौक चर्राया है और उसने ही अपने स्वर्ण-मृगों को इन बादलों के वन में कुलाँचें लेने को छोड़ दिया है? वह उनकी पूँछें चमकीं, उनके पैर चमके, उनके सींग चमके, उनके नथुने चमके! बादलों के वन में, इन स्वर्ण-मृगों की कुलाँचों के कारण ही तो, ये शब्द हो रहे हैं। कभी अकेली मृगी दौड़ी—मधुर-मधुर शब्द हुआ। कभी पूरा मृग-झुण्ड दौड़ा—अजीब गड़गड़ाहट हुई।

आँखों में अपूर्व दृश्यावली, कानों में अभूतपूर्व ध्वनि-प्रतिध्वनि और मस्तिष्क में चित्र-विचित्र कल्पना-लहरी। मेरे पैर थम चले। मैं कुछ आगे, उस नालेवाले पुल के निकट खड़ा था। क्या होश में था? क्या बेहोश था?

एक परिचित आये; बोले—"क्या देख रहे हैं?"

जवाब क्या देता, ऊपर की ओर इशारा किया।

उन्होंने भी कहा—"अहा, कैसा अच्छा दृश्य!" और आगे बढ़े।

होश ने कहा—सार्वजनिक स्थान पर यों खड़ा रहना ठीक नहीं। किन्तु, पैर में तो पत्थर बँधे थे। आँखें ऊपर उलझी थीं। क्या करता? शिष्टता ने डाँटा—यह भलेमानसपन नहीं। बढ़ना पड़ा। मन में हजारों चपला की चमक लिए, महारथी के कला-कुञ्ज में आया। फिर जो आँखें ऊपर कीं, वैसे ही दृश्य! किन्तु, उसका दायरा कुछ और बढ़ गया है। पूरा आधा आसमान बादलों से ढँका है, घने काले बादलों का रंग फैल जाने से कुछ धूमिल हो चला है। उसमें बिजली चमक रही है; किन्तु अब वह परियों का नृत्य नहीं मालूम होता। मालूम होता है, शिव के गणों ने परियों को खदेड़ दिया है और वे हाथ

में मशाल लेकर ताण्डव का अभ्यास कर रहे हैं। या स्वर्ण-मृग भाग चले, भूरे ऐरावतों को पहाड़ी दस्यु खदेड़े जा रहे हैं। कहाँ का मृदङ्ग-रव, परी-पद-शिंजन; या मृग-स्फालन, मृगी-पद-ध्वनि। अब अजीब धमा-चौकड़ी है, उठा-पटक है, चीख है, चिल्लाहट है! हड़-हड़-हड़-धड़-धड़-धड़! अरे अब तो आँधी आयी! मैं बरामदे से भीतर गया। बेत की कुर्सी पर धम-से जा गिरा। आँखें मुँदी थीं और कल्पना में वही—चपला की चमक, परियों का नृत्य, स्वर्ण-मृगों की उछल...।

बादलों से ऊपर

बिजली की चर्चा ने बादल की याद दिला दी, फलतः ऊपर का यह शीर्षक। किन्तु, इस शीर्षक से आप इस भ्रम में न पड़ें कि कदाचित् मैं वायुयान पर चढ़कर बादलों के ऊपर उड़ा था! नहीं, जब यह घटना हुई, मैं पंखों की दुनिया में नहीं था, ठोस पृथ्वी पर मेरे पैर थे—हाँ, कुछ ऐसी ऊँचाई पर था, जब बादल मेरे नीचे थे।

मैं उन दिनों, 'कर्मवीर' के सम्पादन-विभाग में, खण्डवा था। खण्डवा से शायद ४०-५० मील की दूरी पर (माफ़ कीजिये, दूरी मुझे ठीक-ठीक याद नहीं रहती) असीरगढ़ का किला है। मुगल-इतिहास में इस किले की काफ़ी चर्चा है। इसे कुछ अँगरेज इतिहास-लेखकों ने दक्षिणा-पथ की कुंजी (Key to Deccan) भी कहा है।

जनश्रुति है, यहीं औरंगजेब ने शाहजहाँ को कैद किया था, इसीसे इसका नाम असीरगढ़—कैदी का किला—पड़ा। दादा (पं० माखनलाल चतुर्वेदी) की राय हुई, मैं असीरगढ़ जरूर देख लूँ। एक दिन, टैक्सी से, हम लोग असीरगढ़ के लिए रवाना हुए। अलमस्तों की एक पूरी टोली हमारे साथ थी!

सतपुड़ा की वह तलेटी—नीची-ऊँची जमीन—कहीं एक एकड़ की अच्छी चौरस—सपाट—जमीन दिखला दीजिए, तो आपकी बाजी। मोटर चढ़ती-उतरती, मुड़ती-झुकती शरीर की मीठी-मीठी हिलडुल और दिल की मधुर-मधुर धड़कन देती बढ़ी चली जा रही। छोटी-छोटी पहाड़ी नालियाँ, छोटे-छोटे पहाड़ी टीले—जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी दिहाती बस्तियाँ—लम्बे-बेढंगे सींगोंवाली भैंसें, आधे कसे हुए सीनेवाली ग्रामबधूटियाँ, मैं उत्सुकता से देखता, बढ़ रहा। मेरी आँखें ये देख रहीं और कान सुन रहे—वीरभैया के चुटकले, कुमारजी के गाने, प्रयाग की कविताएँ। और, कल्पना रह-रह कर पटक देती बिहार के हरे-भरे चौरस खेतों में, जहाँ पहाड़ कहानियों में हैं, जहाँ दस-बीस हजार की आबादीवाली देहाती बस्तियाँ हैं, जहाँ की भैंस के सुन्दर, छोटे सींग मेढ़ों के सींगों का मुकाबिला करते हैं, जहाँ की ग्राम-बधूटियाँ......।

'यह असीरगढ़ !'—वीरभैया ने कहा। मोटर एक पड़ाव पर रुकी। गढ़ के 'किलेदार' के रूप में जो एक माली काम करता है, उसे बुलाया गया। उसे पथ-प्रदर्शक बनाकर हमलोग 'गढ़' को 'फतह' करने चले!

जो कभी दक्षिणापथ की कुञ्जी कहलाता था, उसी गढ़ के फाटक के ताले को माली के हाथ की छोटी-सी कुञ्जी ने किस आसानी से खोल दिया! गढ़ की बाहरी दीवारें तक ढह रही हैं, तो भीतर के महलों की क्या बात! कहाँ है मुगलों का वह ऐश्वर्य्य! सामने अंग्रेजों का जो कब्रिस्तान है, उसकी कब्रों पर के लेख मुगलों के पतन के दिनों की याद दिलाते हैं और बगल में जो यह जुमा मस्जिद की सिर्फ एक मीनार बच रही है, वह मानों उनके नाम का फातिहा पढ़ रही है!

"मीनार पर चढ़कर देखो, तो यह गढ़ क्या है, कुछ समझ में आवे!"—माली ने कहा। और यही मीनार का चढ़ना था, जिसने आज इस लेख में असीरगढ़ की स्मृति को ताजा बनाया है।

जिस समय हम मीनार पर चढ़ने का उपक्रम कर रहे थे, क्षितिज पर, जो बादल का एक बड़ा टुकड़ा ऊपर उठ रहा था, इसकी ओर हममें से कम लोगों ने ध्यान दिया था। किन्तु; ज्योंही मीनार के

अन्दर बनी सीढ़ियों को पारकर आखिरी खिड़की पर पहुँचे, मेरे कौतूहल की सीमा नहीं रह गयी। खिड़की से जहाँ तक नजर जाती थी, बादल ही बादल उमड़ रहे थे। वीरभैया ने कहा—वर्षा आकर रहेगी। निर्णय हुआ, इसी खिड़की पर बादल काट लिया जाय, नीचे जाकर भींगने से क्या फायदा?

माली के कहे मुताबिक खिड़की से असीरगढ़ का गौरव हम कहाँ तक देखते, बादलों के गौरव ने हमारी आँखों को यों ढँक लिया कि सिवा उसके कुछ सूझता तक नहीं। जहाँ देखो, बादल, बादल और वे बादल समूचे पहाड़ को ढँके जा रहे—व्यूहबद्ध होकर! बादल का एक दल इस तरफ से बढ़ रहा, दूसरा उस तरफ से, तीसरा तीसरी ओर से, चौथा चौथी तरफ से—उजले-उजले बादलों के दल के दल। और, यह सब हमारे नींचे? हाँ, हम सब बादल के ऊपर हैं और नीचे बादलों के दल के दल पुराने असीरगढ़ पर छापा मार रहे हैं।

हम बादल के ऊपर हैं—मेरे ऐसे चौरस मैदान के रहनेवाले आदमी के लिए कितनी विस्मयकारी यह बात थी, कल्पना कीजिए। मैं विस्मय-बोध कर कहा था; उस विस्मय में रोमाञ्च था, आनन्द था! मैं बादल के ऊपर, और नीचे बादलों के दल-के-दल—उजले, सफेद गोले की तरह, जिस तरह हमारे यहाँ माघ की भोर में कभी-

कभी धुँध लगती है। धुँध की तरह बढ़ता, फैलता, सब चीजों को ढाँपता।

थोड़ी देर में असीरगढ़ का पता नहीं था। बादल, बादल, बादल। चारों ओर धुँध का समुद्र। हाँ समुद्र, जिसमें लहरें भी थीं। लहरें—इधर से उधर आतीं, टकरातीं। टकरायीं और—बरस पड़ीं! अब असीरगढ़ पर वर्षा हो रही थी—झमाझम वर्षा!

और, ओ मानव-सन्तानो, तुम इस मीनार पर चढ़े क्या अछूते बच जाओगे, जब कि असीरगढ़ पानी-पानी हो रहा है? मालूम हुआ, धुँध का एक टुकड़ा उठा और हँसता-इठलाता हमारी खिड़की से निकल गया! खिड़की से निकला, एक छन को हमारी आँखें मुँद-सी गयीं। जब हमने आँखें खोलीं--जादू-सा मालूम पड़ा! हमारे बालों, भौंहों, पलकों और मूँछों पर पानी की बूँदें चमक रही हैं, हमारे कपड़े गीले हो चले हैं और नीचे-नीचे सद्यस्नाता सुन्दरी की तरह, बूढ़े असीरगढ़ की सोई हुई सुन्दरता जाग पड़ी है, हँस रही है, मुस्करा रही है। अरे यह कैसा जादू—यह कौन जादूगर

कुछ देर तक, अपलक, इस सौन्दर्य-राशि को देखते रहे, फिर मीनार से उतरे। घास, पेड़, लताएँ सब धुल-पुँछ गयी थीं। गर्द नहीं,

गुबार नहीं। गढ़ की टूटी-फूटी दीवारों पर उगी हुई काई भी, मखमल-सी चमक रही थी। पहाड़ी के चारों ओर छोटे-छोटे असंख्य नाले—झरने की तरह—झर-झर झर रहे थे। छोटे-छोटे पतले नाले—कोई मृग-छौने-से उछलते, कोई साँप की तरह सरकते, पत्थर के ढोंकों से टकराते, शब्द करते, कलकल करते नीचे की ओर भागे जा रहे थे—ऊधमी बच्चों की तरह। प्रयाग से रहा नहीं गया, कुछ पंक्तियाँ उनके मुख से निकल ही पड़ीं। कुमारजी का कण्ठ भी फूट चला। वीरभैया ने कहा—कहिए बेनीपुरीजी, कैसी रही? मेरे मुँह से सिर्फ यही निकला—अद्‌भुत्, अपूर्व!

अष्टमी का चन्द्रमा

चन्द्रमा की शोभा दो ही दिन—या तो द्वितीया को, जब 'ईद का चाँद' बनकर वह करोड़ों मुसलमानों से इबादत और बन्दगी पाता और उनकी टोपियों में चमकता है। या पूर्णिमा को, जब शरद-पूनो कहलाकर वह भारत के करोड़ों हिन्दुओं की श्रद्धाञ्जलि के उजले फूल-फल पाता है। भाद्र कृष्णा अष्टमी—जन्माष्टमी का चन्द्रमा देखने को नहीं, सिर्फ समय बताने की चीज है। बचपन से ही देखता हूँ, जब व्रत के कारण पेट में हरिन उछलता, बार-बार उचक-उचककर आसमान देखता और ज्योंही उसका आभास मिला, ठाकुरबाड़ी का

घण्टा गनगना उठा और हम प्रसाद पर टूट पड़े। कौन देखने जाय, उस चाँद के सौन्दर्य्य को !

किन्तु, उस दिन उसी अष्टमी के चाँद में जो सौन्दर्य्य देखा, क्या वह भूलने का है ?

१९३० की घटना है। हम राजबन्दी की तरह, हजारबिाग सेण्ट्रल जेल में, सरकार के मेहमान थे। दिन भर काफी स्वतन्त्रता ; किन्तु, ज्यों ही शाम हुई, अपने-अपने सेलों में बन्द कर दिये जाते। जब जन्माष्टमी आयी, बड़ी मुश्किल से जेल के अधिकारियों ने व्रत के लेहाज से, आधी रात तक खुले रहने की इजाजत दी।

उस दिन व्रत का पूरा आयोजन था। हिन्दू-धर्म-ध्वजी बाबू जगतनारायण लाल थे ही और थे कृष्ण के अनन्य भक्त श्रीमान् हीराजी। कृष्ण की मूर्त्ति रखी गयी, उन्हें झुलाया गया, उनके सामने नाचा और गाया गया। मैंने उसी दिन इन दो महानुभावों का नाच देखा। आँख मूँदे, हाथ फैलाये, गद्गद् कण्ठ से कुछ गाये जा रहे, मानो किसी दूसरी दुनिया में पहुँचे हैं, और उसी गान के ताल पर अजीब ढङ्ग से कमर हिलाते और पैर पटकते नाच रहे थे। मेरे जैसे नास्तिक हँस रहे थे।

जब इनके नाच-गान से मन ऊबा, सोचा, चलो, जेल की सैर हो। इस वार्ड से उस वार्ड। क्यों न अपने बीमार दोस्त से भी अस्पताल में जाकर इस व्रत के दिन मिल लिया जाय? हमारी टोली वहाँ पहुँची। वहाँ गपशप हो रही थी कि कृष्ण-जन्मसूचक घण्टे गनगना उठे और स्तुति के स्तोत्र हमारे कानों में झङ्कार कर उठे।

बड़े हुए तो क्या? बचपन के संस्कार तो मिटे नहीं। प्रसाद के लोभ से हम लोग वहाँ से भागे!

किन्तु, अस्पताल से निकलते ही जो दृश्य देखा, उस ने पैर में मानो भारी जञ्जीर डाल दी।

हजारीबाग जेल एक पहाड़ी टेकड़ी पर बनाया गया है; यों तो यह समूचा जिला ही पहाड़ी है। इस टेकड़ी पर से अनेकानेक दीवारों के बावजूद, आप कितनी ही पहाड़ियों की झाँकी निश्चय पा सकते हैं। अस्पताल से बाहर हम जहाँ खड़े थे, वहाँ से सामने पूरब एक पहाड़ी का धूसर सिर हम देख सकते हैं। जब हम उसके उस सिर को देखेंगे, तो उसके नीचे जेल के वार्डों की जो लगातार दीवारें हैं, वे मालूम पड़ती हैं, मानो वहाँ तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ लगी हुई हों। कहाँ ये दीवारें, कहाँ वह पहाड़ी। लेकिन, वे सब मानो सिमिट कर एकत्र हो जाती हैं। रात में तो और भी।

गेहूँ और गुलाब

अस्पताल से निकल कर जब हम उस निश्चित स्थान पर पहुँचे, पूरब की ओर देखते ही स्तब्ध रह गये। देखा, अष्टमी का चन्द्रमा निकल कर उस पहाड़ी के सिर पर यों दीख रहा है, जैसे किसी ने उसे आसमान से उतार कर, बहुत ही सलीके से वहाँ अभी-अभी रख दिया हो। हाँ, हूबहू ऐसा ही लगता था। मैं चिल्ला उठा, देखो, देखो। दोस्तों का भी ध्यान गया। उस धूसर पहाड़ी पर, इस नीरव निशीथ में, वह अष्टमी का चन्द्रमा कैसा था ?—शिव के सिर पर चन्द्रमा की बात हमने किताबों में पढ़ी थी, यहाँ हम प्रत्यक्ष देख रहे थे। वह धूसर पहाड़ी सचमुच चन्द्रशेखर शङ्कर-सा प्रतीत होती थी।

किन्तु, यह दृश्य कितना क्षणिक था। थोड़ी ही देर में पहाड़ी और चन्द्रमा के बीच थोड़ा-सा फाँक हो गया। वह फाँक बढ़ता गया। मालूम होता, रूठ कर चन्द्रमा भागा जा रहा है और उसे पाने को पहाड़ी स्वयं ऊपर उठ रही है; किन्तु, अपनी स्थूलता से वह लाचार हो रही है। यह चार अंगुल ऊपर, यह एक बित्ता ऊपर, यह एक हाथ ऊपर। इच्छा हुई, यह जो दीवारों की सीढ़ियाँ लगी हैं, उन पर चढ़ कर दौड़ूँ और यों हाथ में आया हुआ चाँद, जो बेहाथ हुआ जा रहा है, उसे हस्तगत कर लूँ! किन्तु, सामने ही जो सिर से ऊपर की पहली दीवार है, क्या उसका लाँघना सम्भव है!

गेहूँ और गुलाब

चन्द्रमा ऊपर बढ़ता गया। उसी समय सामने का जो पीपल का पेड़ है, उस पर की एक अभूतपूर्व चमक ने अपनी ओर ध्यान खींचा। ज्यों-ज्यों चन्द्रमा ऊपर उठ रहा था, उसकी ज्योत्स्ना पीपल के चिकने ढुरढुर—पत्तों पर पड़ कर मानो फिसली पड़ती थी। बार-बार वह उस पर पैर रखती, फिसलती, खिलखिला उठती;—हाँ, पत्तों की मधुर-मर्मर-ध्वनि उसकी खिलखिलाहट ही तो थी! पीपल के पेड़ का जो हिस्सा चन्द्रमा की ओर था, वहाँ तो यह क्रीड़ा-कुतूहल हो रहा था, बाकी हिस्सा वैसा ही स्तब्ध, अन्यमनस्क, उदास। उस उदासी की पृष्ठिभूमि में यह चकमक, झलमल, मर्मर और भी प्राणोन्मादक लग रहा था। आँखों को इस तरह खींच लिया था इस दृश्य ने कि चाँद की सुध भी भूल गयी होती; किन्तु, एक-ब-एक अँधेरा होता देख, आसमान की ओर नजर दौड़ायी। अब वहाँ एक अजीब समाँ था। हंस-कुमार शैवाल-जाल में फँसा है! बादल का न-जाने कहाँ से एक काला टुकड़ा आकर उसे ढाँपने पर तुला है। हंस के बच्चे की तरह वह बार-बार उस शैवाल-जाल को छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा कर रहा है। कभी बादल उसे ढँक लेता है, कभी वह उसे चरका दे कर निकल भागता है। फिर बादल दौड़ता है, उसे ढँक लेता है। तब वह आकाश-सागर में गोते लेकर फिर उससे अलग, दूर जा निकलता है—सद्यस्नात सुन्दर, ताजा चेहरे को चमकाते हुए। बहुत

देर तक यह बादल और चन्द्रमा की आँख-मिचौनी होती रही। आखिर वायु के एक जबर्दस्त झोंके ने चन्द्रमा की मदद की। वह बादल का टुकड़ा न-जाने कहाँ भगा दिया गया। चाँद ठहाका मार-मारकर हँसता रहा।

अब चन्द्रमा पहाड़ी से ऊँचे, काफी ऊँचे पर चढ़ चुका है। उसे हमारी कल्पना के हाथ छू नहीं सकते। उसकी रोशनी में यह जेल अपनी सम्पूर्ण जड़ता के साथ खड़ा है। मेरे सभी साथी मुझ पागल को छोड़कर प्रसाद पाने को जा चुके हैं। कानों में अब भी घण्टे का रव और स्तोत्र की ध्वनि आ रही है। किन्तु, देवता का यह अर्चन-पूजन भी इस स्थान की दानवता और पैशाचिकता को कम नहीं कर सकता। कहाँ यह स्वच्छन्द चन्द्रमा, वह निर्बन्ध आकाश और कहाँ यहाँ की ये काली-काली दीवारें, उनके अन्दर तड़पती, कराहती हुई मानव-आत्माएँ।

किन्तु, इस सुन्दर दृश्य के समय, यह असुन्दर भावना क्यों? मन तू चाँद की तरह ही स्वच्छन्द, निर्बन्ध विचरो; तुझे कोई बाँध नहीं सकता।

नमस्ते अष्टमी का चन्द्रमा!

शरद् की पूर्णिमा

शरद् पूनो !—और रासलीला की याद आयी ! हमारे ग्रन्थों में कृष्ण की कल्पना भी कैसी दिलचस्प है। कभी उसे माखन चुराते पाइए, कभी दानव-संहार करते, कभी वृन्दावन में रासलीला रचाते, कभी कुरुक्षेत्र में गीता सुनाते !

शरद् पूनो और रासलीला दोनों में अटूट सम्बन्ध है। जब बरसात खत्म हो चली हो, आकाश-मण्डल में न बादल का कोई टुकड़ा हो, न वायु-मण्डल में धूलि का एक भी कण; जब पत्ते धुले-पुछे हों, धरती धोई-बुहारी; जब खेत की आरियों पर काँस फूले हों और सरोवरों में कुमुद; जब फुलवारियों में रजनीगन्धा फूली हो और आँगन में हरसिङ्गार की कलियाँ हँस रही हों—ऐसी मनभावनी ऋतु की सुन्दर, शीतल, सुखप्रद रात में जब पूर्णिमा का चन्द्रमा आधी रात को सर पर चढ़कर अट्टहास कर उठे, तब ऐसा कौन हृदय होगा, जो गा नहीं उठे, जो नाच न उठे। पुरुष का हर स्वर तब वंशी की ध्वनि होगा, नारी का हर पद-चालन नृत्य का एक-एक ताल होगा ! और कहीं पृष्ठभूमि में यमुना-जैसी श्यामली नदी हो, कदम्ब की हरी छाया हो, वृन्दावन का शान्त वातावरण हो !

अपनी कल्पना की दुनिया में, कितनी ही शरद् पूनो को मैं वृन्दावन पहुँचा हूँ, कृष्ण से बातें की हैं, गोपियों से चुहलें हुई हैं और उनकी रासलीला का सुख लूटा है। किन्तु, प्रत्यक्षतः जिस शरद् की पूर्णिमा ने मेरे जीवन में सब से अधिक गहरी छाप डाल रखी है, आज उसी की तस्वीर उतारने की चेष्टा कर रहा हूँ।

१९३४ की बात है। बम्बई काँग्रेस हो रही थी। श्रद्धेय राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति चुने गये थे। हमारे लिए गौरव की बात थी। यों मैं बहुत ही कम काँग्रेसों में शामिल हुआ हूँ, किन्तु इस बार लोभ सम्वरण नहीं कर सका।

बम्बई पहुँचकर अतिथि-निवास में डेरा डाला। स्वागत-समिति के भोजनालय में एक दिन भोजन कर रहा था कि राष्ट्रपति निरीक्षण को पहुँचे। मैं उन्हें देखते ही खड़ा हुआ। वह वहाँ तक आये। सब ने विस्मय के साथ देखा, राष्ट्रपति किससे घुल-घुलकर बातें कर रहे हैं। भोजन के बाद मुझे आज्ञा की, देखो, मेरे भाषण का हिन्दी-अनुवाद देख जाओ, कहीं 'बिहारी हिन्दी' की शिकायत न हो जाय —यह अन्तिम फिकरा उन्होंने हँसते-हँसते कहा।

अनुवाद बुरा था। मुझे शुरू से नया अनुवाद करना पड़ा।

जल्दी का काम था, मैंने अपना सहायक श्री प्रभाकर माचवे को चुना, जो उन दिनों एक विद्यार्थी थे, एक सुशील, परिश्रमी और प्रतिभाशील विद्यार्थी। वह अँगरेजी की कॉपी पढ़ते जाते, मैं अनुवाद करता जाता। कल कॉंग्रेस है। आज ही रात में इसे पूरा कर लेना है। बड़ी रात तक, दीन-दुनिया भूले, कलम घिसाघिस करता रहा। लेकिन जब जम्हाई पर जम्हाई आने लगी और शरीर ऐंठने लगा, सोचा, जरा टहल लिया जाय।

हम दोनों राजेन्द्र बाबू के शाही कैम्प से बाहर निकले। बिजली की चकाचौंध से अलग हुए, मालूम हुआ, ओहो, आज तो शरद्-पूनो है। पूरा चाँद सर पर चला आया था। उसी समय समुद्र का मधुर-मधुर गर्जन सुनाई पड़ा। माचवे ने कहा, समुद्र-किनारे चलिये।

समुद्र-किनारे पहुँचा और देखकर निहाल हो गया। समुद्र-किनारे जो बाँध बँधा है, उस पर हम बैठे थे। सामने जहाँ तक नजर जाती है, समुद्र-ही-समुद्र। उसमें ज्वार आया है। बड़ी-बड़ी तरंगें उठतीं, एक दूसरे से टकरातीं, फेन उड़ातीं, गर्जन करतीं, आगे बढ़तीं, और बाँध पर सर पटककर फिर लौट जातीं। ऊपर जो पूर्ण-चन्द्र आधी रात तय करके सर पर खड़ा मुस्कुरा रहा है, उसकी

मुस्कुराहट उन तरंगों पर अठखेलियाँ कर रही है। कभी-कभी मालूम होता, किसी अदृश्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्स्ना-कुमारियाँ चन्द्रमण्डल से एक-एक कर उतर रही हैं और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरङ्ग-मालाओं के कम्पित अधरों को चूम-चूमकर अट्टहास कर उठती हैं। इन चुम्बनों की मादकता से मतवाली बनी तरंगें आप अपने में नहीं समातीं, समुद्र को नीचे छोड़कर ऊपर उड़ना चाहती हैं; किन्तु उड़ नहीं पातीं, फलतः बार-बार मूर्च्छित होकर, हाहा खाकर गिर-गिर पड़तीं और फिर ज्योंही होश में आतीं, वे ही निष्फल चेष्टाएँ! स्वभावतः ही ज्योत्स्ना-कुमारियों को इसमें मजा मिल रहा है, वे भी इस तड़पन का तमाशा देखने को बार-बार चुम्बनों की वर्षा-सी किये जा रही हैं!

समुद्र! अगाध समुद्र, अथाह समुद्र—यह कैसा छिछलापन तुममें आज देख रहा हूँ। कहाँ है वह तुम्हारी मर्यादा, जिसके लिए तुम मशहूर हो? तुम्हारी यह व्याकुलता, यह आस्फालन, यह हाहाकार, यह सर पीटना—तुम्हें बेपर्द किये दे रहा है! अरे, सोचो, अरे सम्हलो! और ओ पूर्णचन्द्र!—जरा तुम्हीं अपनी लाज समेटो। किसी भलेमानस को यों बेपानी करने से क्या फायदा? वह प्रेम प्रेम नहीं, जिसमें प्रियतम या प्रियतमा की मर्यादा की रक्षा

ही भुला दी जाय ! बेइज्जती, बेपर्दगी का नाम प्रेम नहीं। किन्तु, नहीं, तुम नहीं मानोगे। आज तो तुम हँसने में मस्त हो। इस हँसी की मस्ती में होश की बात कौन सुने ? अच्छा तो हँसो, हँसो, हँसो—खूब हँसो, खूब हँसो, इतना हँसो कि तुम खुद बेहोश हो जाओ।

और, क्या यह सच नहीं है कि आज संसार में हँसी की अजस्र वर्षा हो रही है। कहाँ की चीख, कहाँ की तड़प ! यह सामने जो समुद्र है, वह भी हँस रहा है, अट्टहास कर रहा है। समुद्र के उस पार—क्षितिज के उस छोर पर एक छोटा-सा जो झिलमिल तारा है, उसकी हँसी देखिए, अपनी हँसी में वह घुला-मिला जा रहा है। इस तरफ स्वागत-समिति ने जो अतिथियों का आवास—एक नया नगर बसा रखा है, उस पर भी हँसी का ही राज्य है। दूर-दूर से आये-थके प्रतिनिधि सो चुके हैं, दिन भर का कोलाहल-कलरव शान्त हो चुका है। इस नयी नगरी की निस्तब्धता पर चाँद की हँसी एक नीहारिका-सी, कुहेलिका-सी, प्रहेलिका-सी छा रही है। नीचे खारे पानी का समुद्र लहरा रहा है, ऊपर तरल चान्दी का समुद्र लहर-पर-लहर ले रहा है। और उस लहर पर वह झण्डा-चौक का तिरङ्गा फर-फर कर रहा है।

पढ़ा है, पागल चाँद को देखा करते हैं। तो क्या चाँद का ज्यादा देखना पागलपन की निशानी नहीं? आज भी याद आता है, मैं उस पूर्णचन्द्र को इस तरह एकटक देख रहा था—मानो मेरी दो आँखें चक्रवाक के जोड़े हों। कब तक इस पागलपन की स्थिति में रहा, कह नहीं सकता। अकस्मात् पाया, बाँध पर से अपने दोनों पैर, जो मैंने नीचे, समुद्र की ओर लटका रखे थे, उन पर ठण्ढी-ठण्ढी थपकी पड़ रही हैं। एँ, यह क्या? यह समुद्र का पानी इतना ऊँचा बढ़ आया है! और समुद्र—समुद्र तो अब फेन की राशि बना हुआ है। तरङ्ग-तरङ्ग, फेन-फेन! और फेन के हर बुल्ले में चाँद का एक-एक टुकड़ा-सा चमचम कर रहा है। अजीब कोलाहल, अजीब हलचल! पानी के छींटे उड़-उड़ कर मेरे चेहरे पर, सर पर पड़ रहे। पिछली रात की ठण्ढी हवा चलने लगी थी, जिसमें समुद्र के नमकीनपन की एक अजीब सुगन्ध थी। वह सुगन्ध मन-प्राण को पागल बनाये डालती थी। जो तरङ्गें वहाँ समुद्र में थीं, अब उनसे भी ऊँची हृदय में उठ रही थीं—हृदय में, नस-नस में, शिरा-शिरा में। वहाँ भी तरङ्गें थीं, फेन थे और उन फेनों के बुल्ले में चाँद के एक-एक टुकड़े-से चमचम कर रहे थे। मैं भावावेग में एक बार फिर निमग्न हो रहा!

"बेनीपुरीजी, वह दो बजे! अभी बहुत काम बाकी है।"—

प्रभाकर ने कहा। "हाँ, ठीक तो!"—कह कर मैं उठ खड़ा हुआ और चल पड़ा। चलते-चलते मुड़कर एक बार फेनिल समुद्र की ओर नजर की, फिर पश्चिमी क्षितिज की तरफ बढ़ते हुए पूर्णचन्द्र की ओर।

अमा-निशीथ

क्या अमावस्या की अर्द्धरात्रि में भी सौन्दर्य्य है?

शरद-पूनो की याद ने मुझे भादों की जिस अमा-निशीथ की याद हरी कर दी है, उसका उत्तर है—हाँ! लेकिन, मैं यह मानता हूँ, उस सौन्दर्य्य के अनुभव के लिए एक खास ढङ्ग की मानसिक स्थिति ही नहीं, दृष्टि-विन्दु भी चाहिए। यों, तो कोई भी यह दावे के साथ नहीं कह सकता कि सौन्दर्य्य सिर्फ चन्दन की स्वच्छता में है, आबनूस की कालिमा में नहीं। कृष्ण और कालिन्दी तो सौन्दर्य्य के दो महान् उदाहरण हैं ही।

मैं उन दिनों 'युवक' निकाल रहा था। पटना कॉलेज के सामने, मुख्य सड़क पर, एक खपड़ैल मकान ले रखा था, जो 'युवक-आश्रम' के नाम से मशहूर था। बरसात की ऊमस मशहूर है। उस खपड़ैल के नीचे, बहुत रात बीतने पर भी, हम

करवट-पर-करवट बदल रहे थे। पटने के मच्छड़ों का धावा अलग था। नींद बेचारी हमें छोड़, कहीं कोने में ऊँघ रही थी।

जब किसी तरह वह बार-बार बुलाने पर भी नजदीक नहीं फटकी, मैंने तय किया, गंगा के किनारे जाकर टहल आया जाय! इस आधी रात को अन्धेरे में गंगा के किनारे! किन्तु, जिन्होंने अपनी नाव आप जला दी हो, उन्हें तरङ्गों से क्या भय?

जब मैं धीरे से, जिसमें साथियों की निद्रा भङ्ग न हो, उठने का उपक्रम कर रहा था, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भी, जो प्रायः ही मेरी कुटिया को सुशोभित किया करते थे, और मेरी बगल में सोये थे, उठ बैठे; और हम दोनों गङ्गा के किनारे जा पहुँचे!

चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार! आसमान में घनघोर बादल छाये हुए। एक तिनका भी कहीं नहीं हिल रहा। आसमान में एक तारा भी नहीं दिखायी देता। हाँ, किनारे पर जो पुराना पीपल का पेड़ है, उसकी फुनगियों पर जुगनू भुक-भुक कर रहे। उनका वह भुक-भुक प्रकाश, दो क्षण चमक, अन्धकार को और भी भीषण बनाता।

सामने गङ्गा है—भादो की गङ्गा। पटने से लेकर, उधर सब्बलपुर की बस्ती तक, लगभग दो मील फैली हुई गङ्गा। गङ्गा पर भी अन्धकार की ऐसी चादर बिछी हुई थी कि अगर उसका कल-कल शब्द नहीं होता, हम कल्पना भी नहीं कर पाते कि सामने नदी है।

उस पीपल पेड़ के नीचे, एक किनारे बैठकर हम अमा-निशीथ का सम्पूर्ण सौन्दर्य्य देख रहे हैं।

हाँ, सम्पूर्ण सौन्दर्य्य। अञ्जन-वर्ण कालिमा। आसमान से जैसे कालिमा बरस रही हैं। कभी-कभी मुश्किल से, जो सॉय-सॉय कर निकल भागती है, वह हवा भी मानों कालिमा बो जाती है। कालिमा के वे बीज गङ्गा की आर्द्रता पाकर अंकुर लेते, पौधे बनते, फिर अपनी डाल-पात आसमान में फैलाकर अखण्ड कालिमा में लीन हो जाते।

और वह देखिए, गंगा की उन अदृश्य लहरियों पर कौन नाच रही है? ऊपर अन्धकार का चँदोवा तना है, नीचे अन्धकार का फर्श बिछा है। अगल-बगल अन्धकार के राजकुमार बैठे तमाशा देख रहे हैं। और, वह नाच रही है, आप नहीं देखते? वह अमा-सुन्दरी नाच रही है! उसके हाव-भाव देखिए, तोड़-मरोड़

देखिए, लटक-चटक देखिए, वह उसने गर्दन तिरछी की, यह उसकी कमर लचकी। ओहो, दर्शकों की यह व्याकुलता! कैसी अपार हर्ष-ध्वनि!

यह हर्ष-ध्वनि है?—नहीं, आवर्त्त का गर्जन है। गंगा में कहीं भँवर पड़ गयी है, कहीं लहरें टकराकर यह शोर कर रही हैं।

इस पर यह किनारा है, यह पीपल का पेड़, जिसके सर पर जुगनुओं का भुक-भुक। उस पार वह सब्बलपुर गाँव, जहाँ एक दीपक टिम-टिम तक नहीं। हाँ, उसके पीछे सोनपुर स्टेशन में जलनेवाली बिजली-बत्तियों की, ऊपर उठकर फैली हुई प्रकाश-रेखा क्षीण, अस्पष्ट। बीच में गंगा मैया का आँचल, जिस पर अमा ने अपना काला मखमली फर्श बिछा रखा है।

ऐं, यह शब्द कैसा? कोई मलार गा रहा है क्या? उसी समय सोये से उठकर, झिंगुरों के एक दल ने पीछे से शहनाई टेरी। फिर मेढ़की को ही क्यों न जुकाम हो! उसकी टर्र-टर्र भी शुरू हो गयी।

इधर किनारे पर ये तरह-तरह के बाजे और गाने और बीच में वह अनवरत नृत्य, मैं निर्निमेष जिसे देख रहा! निर्निमेष—या बिलकुल आँखें बन्द किये।

उसी समय राहुल बाबा ने कहा—'देखो, वह जहाज आ रहा ; कैसा सुन्दर !'

दीघाघाट से एक व्यापारी जहाज, कलकत्ते की ओर, जा रहा था। उस पर जलनेवाली बत्तियों की रोशनी उसकी गति से उत्पन्न शत-सहस्र तरङ्गों पर खेल रही थी ! उसके सामने का जोरदार सर्चलाइट, अन्धकार के हृदय को दो टुकड़ों में बाँटता, बढ़ता जा रहा था ! वह बेचारा—अन्धकार—चीख रहा था। अमा-सुन्दरी के फर्श के तार-तार उड़ चले थे। कहाँ गया वह नृत्य, कहाँ गये वे अपरूप दर्शक। उस चतुर्दिक-व्यापी अन्धकार में जहाज का झलमल, निस्सन्देह ही, मुग्धकर था ! लेकिन मेरा हृदय, न जाने क्यों, उस अन्धकार और रोशनी के क्रीड़ा-कौतुक को पसन्द नहीं कर सका। मुझे ऐसा लगा, मानों यह रंग में भंग हुआ, तमाल के वन में किसी अरसिक ने अचानक आग लगा दी !

राहुलजी कोई ऐतिहासिक कहानी कह रहे थे, जब पटना से इसी तरह जहाज चलते होंगे और लङ्का पहुँच कर धर्म का सन्देश देते होंगे···! किन्तु, मेरे कान कह रहे थे, कृपा कर चुप रहिये, एक बार फिर उस मलाह को गाने दीजिए, झिंगुर की झङ्कार सुनाने

दीजिए···; और, मेरी आँखें कहती थीं, दूर हो, यह दानव-काय जहाज ! एक बार फिर कालिमा फैले, अञ्जन बरसे और अमा-सुन्दरी नृत्य करे !

सरसों के समुद्र में

बस, एक दृश्य और। बात को अधिक बढ़ाना ठीक नहीं, और मधुरेण समापयेत्।

वसन्त कश्मीर का। मेरी बदनसीबी समझिए, मैंने वहाँ का वसन्त-वैभव नहीं देखा। हाँ, किताबों में पढ़ा है, मित्रों से सुना है, बहुरङ्गी तस्वीरें देखी हैं। उस झील में कमलों का वह वन, जिन पर शिकार तैर रहे। बर्फ से लदी चोटियों पर प्रातः सूर्य की वे स्वर्ण-रश्मियाँ। लेकिन, मुझे सब से विशेष रुचिकर लगा, घरों के ऊपर आप-से-आप उग आये पौधों का वह रंग-बिरङ्गा संसार, जिसे मानव-हाथ छू नहीं पाते, मानव-पद अपवित्र नहीं कर सकते।

खैर, जाने दीजिए उन बातों को। मैं इस भरे वसन्त में आपको एक छोटी-सी 'गँवई' में ले जाना चाहता हूँ।

गेहूँ और गुलाब

जन्मभूमि प्यारी होती है—बेनीपुर भी मुझे प्यारा है। वहाँ क्या है—कह नहीं सकता; किन्तु, उसकी मिट्टी में कोई आकर्षण जरूर है, जो मेरे ऐसे वहशी को बार-बार अपनी ओर खींचता है, खींच लेता है। लेकिन, मेरा दावा है, बेनीपुर में और कुछ न हो, चन्द दिन ऐसे हैं कि जिनके बल पर वह आपको भी बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

वे दिन हैं—जब सरसों फूली हुई होती है। एक-दो खेतों में छिटपुट सरसों को फूला हुआ देखकर ही हम फूले नहीं समाते; किन्तु, वहाँ तो सरसों का समुद्र लहराया करता है।

बागमती की कृपा से इधर नाले, पोखर, चौर भरकर जो पूरी-की-पूरी सपाट—चौरस बन गयी है; उस जमीन पर आप माघ में पहुँचिए। ज्यों ही बेदौल से आप बाहर होंगे, आप समझिए, सरसों के समुद्र के कूल पर पहुँच गये। जरा, पूरब की ओर नजर कीजिए, पीला, पीला, पीला—जहाँ तक आपकी नजर पहुँच सकती है, पीला ही-पीला! क्या पीत समुद्र का एक टुकड़ा, किसी जादूगर ने यहाँ ला पटका है? किन्तु, कहाँ पीत सागर, जहाँ का पानी खारा, मुर्दा; यहाँ तो जीवन तरंगें ले रहा है, सुगन्ध सपक्ष उड़ रही है। ऊपर, ऊँचे, वह सँपाबेनी अपने हरे परों को आसमान की नीलिमा में

खोने की चेष्टा करती हुई, सीटी-पर-सीटी बजा रही है। नीचे फुदगुद्दियाँ फुदक रहीं, बगेरियाँ चहक रहीं और बीच में तितलियों की चमचम और भौंरों की भनभन आपके प्राण-मन को व्याकुल बना रही। कहाँ वह पीत सागर--कहाँ यह सरसों का समुद्र--कोई तुलना नहीं, कोई उपमा नहीं।

आइए, इस समुद्र में धँसिए। डूबने का डर नहीं, जान को खतरा नहीं। इसमें गोते लगाइए, प्राण को जुड़ाइए। बीच की पगडण्डी से आप बढ़े चलिए! सरसों की पंखुड़ियाँ कभी आपके विशाल वक्ष पर गिर-गिर पड़ती हैं, कभी उचक-उचक कर आपकी रसीली अधरों को चूमने की कोशिशें करती हैं। आप कितने अरसिक हैं! प्रेम का प्रतिदान देना आपने जाना नहीं? लीजिए, जिसका आपने अपमान किया, वही अब आपके सर पर है। आपके पास आईना होता, तो आप देखते, आपके सर के मुलायम बाल इस समय सरसों की पतली-पतली पंखुड़ियों का घोंसला बन चुके हैं!

कहीं इस पीली-पीली दुनिया से आपका मन ऊब न जाय, इसलिए बीच-बीच में भोजन में चटनी की तरह, यह देखिए, यह क्या है? यह, यह मटर का बाजार है—हरी चादर पर कारचोबी का काम। यह केराव का खेत—वही शोभा, लेकिन बैंगनी की

बहार ! यह गेहूँ-गेहूँ—शुभ्र हरीतिमा ; बालियों में किसका मन न उलझे ! जमीन से सटी, सिमटी ताक रही हैं, चने की क्यारियाँ—सौन्दर्य्य है ; सलोनापन भी, आप आकृष्ट क्यों न होंगे ? लेकिन, वे कौन आँख तरेर रही हैं—गुस्से में काँप रही हैं ? उनकी नीली-नीली आँखें मानों फटी पड़ती हैं। छोटी, पतली तीसी-कुमारिकायें—इतना नाज-नखरा ठीक नहीं। जरा लोक-लाज भी देखो। तुम्हारी इस शोखी पर वह एकाकी अरहर शरमायी जा रही है—पीली-पीली हुई जा रही है।

सौन्दर्य्य और संगीत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ही। पूर्वी हवा का सनन्न्, पक्षियों का कलरव, भौरों की भनभन तो थी ही, मानव-मन भी अपने को जब्त न कर सका। उसके कण्ठ फूट चले। किसी एक ने होली की एक कड़ी गा दी, बस, समूचे सरेह में संगीत की ध्वनि-प्रतिध्वनि जग उठी। संगीत भी संक्रामक है—वह बूढ़े बाबा का पोपला मुँह भी ताना-रीरी का शौक पूरा करने लगा।

बीच में यह किसकी चूड़ियाँ खनक उठीं ? किसका झूमका झमझमा उठा ? किसके कड़े-छड़े एक अजीब स्वर-लहरी की सृष्टि कर उठे ? वह कौन है ? आपने उसे कभी शहरों में देखा है ? अपने काले बालों में, अपने गोरे चेहरे को छिपाती, अपने

वासन्ती वस्त्रों में अपने चम्पई अङ्गों को चुराती ! वह आपको देखते ही जङ्गली हिरन की तरह चौंकी, भागी और इस सरसों के समुद्र में गोते लेकर छिप गयी ! छिप गयी—अब आप सिर्फ ऊपर की तरङ्गों को गिनते रहिए !

विद्यापति का—'दछिन पवन बहु धीरे'—उनकी पुस्तक या उनके प्रशंसकों के कण्ठों तक ही रह गया ; लेकिन, 'री पुरवैया धीर बहो'—लोकगीत बनकर जो कराड़ों कण्ठों को आप्यायित किया करता है, क्यों ? इस सरसों के समुद्र मे ही इसका उत्तर पाइयेगा ! पुरवैया बही नहीं कि इस शान्त-पीत समुद्र में तरङ्ग-पर-तरङ्ग उठने लगी। पहले एक सिहरन-सी, फिर, होते-होते, ढेहू तक। बड़े-बड़े ढेहू—एक-पर-एक। सरसों की पतली सुकुमार पंखाड़ियाँ पुरवैया के झोंके पर उड़ रहीं। हवा में पराग के कण। इस पराग और पंखाड़ियों के चलते हवा भी एक अजीब पीलेपन में डूबी। इनके स्पर्श से, लहर से, झकोर से मन भी क्यों न पीले रंग में—वासन्ती मादकता में रँग जायँ ?

मीरा नाची रे !

मीरा नाची रे, पग घुँघरू बाँध !

अट्टालिका का घेरा, वंश-मर्यादा का घेरा, लौकिक पातिव्रत का घेरा, पारलौकिक स्वर्ग-नरक का घेरा ! किन्तु, सब को तोड़ कर, लाँघ कर मीरा नाची रे, पग घुँघरू बाँध !

चारों ओर से छिः-छिः की बौछार, चारों ओर से धिक्कार और फिटकार ! बाहरवाले कहते हैं—निर्लज्ज ! घरवाले कहते हैं—कुलटे ! तो भी मीरा नाचे रे, पग घुँघरू बाँध !

पग घुँघरू बाँध मीरा नाचे रे, पग घुँघरू बाँध !

यह है मणिधर सर्प की माला; यह है हलाहल विष का प्याला! किन्तु, मीरा नाचे रे······!

घर छोड़ा, द्वार छोड़ा, कुटुम्ब छोड़ा, परिवार छोड़ा, जीवन-धन पति छोड़ा; किन्तु, पग घुँघरू बाँध मीरा नाचे रे!

सदियों के थपेड़ों ने उस अट्टालिका को धुस्स में मिला दिया; उस वंश की मर्यादा भी अछूती नहीं रही; उस राणा का नाम भी लोगों को याद नहीं; किन्तु, आज भी मीरा नाचे रे!

मीरा नाचे रे! घर-घर में, दर-दर में, शरीर-शरीर में, हृदय-हृदय में! मीरा नाचे रे, पग घुँघरू बाँध!

रंग-बिरंगे चल चित्रों में, इथरिक ध्वनियों में—जहाँ मनुष्य के कान और आँख की गति है, सब जगह—मीरा नाचे रे!

कण्ठ मीरा के गीत गाते हैं, कान मीरा के गीत सुनते हैं, आँखें मीरा के चित्र देखती हैं। यत्र, तत्र, सर्वत्र—मीरा नाचे रे, पग घुँघरू बाँध!

मीरा की जय, नृत्य की जय!
पग की जय, घुँघरू की जय!

उस विद्रोहिणी मीरा की जय, जिसने अपने हृदय की पुकार पर बौछारों और धिक्कारों की उपेक्षा की !

उस नृत्य की जय, उस पग की जय, उस घुँघरू की जय, जिसका ताल, जिसकी झङ्कार सदियों के बाद भी हमारी अनुभूतियों में जीवित और जागृत हैं !

गाइये—

पग घुँघरू बाँध, मीरा नाचे रे ! मीरा नाचे रे, पग घुँघरू बाँध !

× × × ×

हमारे कॉलेज की लड़की ; पार्ट तो बहुत अच्छा करती है ; किन्तु, स्टेज पर······!

उस लड़की का नृत्य, क्या कहना ? किन्तु, उसके मा-बाप···

आपका नाम ?

रेडियो स्टेशन में मेरा नाम तो है रेखा ; लेकिन घर में······

यह छिपाव ?

गाने का शौक है; किन्तु, कहीं पतिदेव ?······

मा-बाप, पतिदेव !

और हम में ऐसे मा-बाप भी हैं, जिन्हें आप सुशिक्षित-शिरोमणि भी कह सकते हैं ! ऐसे पतिदेव हैं, जो अपने क्षेत्र में क्रान्तिकारी के नाम से प्रसिद्ध हैं !

किन्तु वे अपनी पुत्री को स्टेज पर उतरने नहीं देंगे; वे अपनी पत्नी को नाचते देख कर शायद विष खा लेंगे !

गाती हो तो ठीक ! पिताजी हाईकोर्ट से लौटें तो उन्हें एक भजन सुना देना ! पतिदेव कॉलेज से आयें, तो एक प्रेम-गीत गा देना !

डार्लिङ्ग !—'हे री, मैं तो प्रेम-दिवानी; मेरा दरद न जाने कोय !'

बेटी—'मेरे तो गिरधर, गोपाल; दूसरो न कोई !'

हाँ, इस पिताजी को 'मीरा' का शौक है, इस पतिदेव को 'मीरा' का शौक है ।

क्यों न हो, मीरा सब पर छा रही है, सब जगह छा रही है न ?

किन्तु, मीरा के ये प्रेमी अपने घर की मीरा के साथ क्या कर रहे हैं, क्या वे कभी सोचते हैं ?

किन्तु, मीरा के अभिभावक यही करते आये हैं, यही करते रहेंगे। युग बदलते हैं, पिता और पति नहीं बदलते !

किन्तु सवाल है, मीरा क्या कर रही है ?

बोलो, ओ देश की असंख्य मीराओ ! तुम क्या कर रही हो ?

देश में सांस्कृतिक नव-जीवन लाना है। देश का नव पुनरुत्थान करना है।

राजनीति बिना नारी के सध भी जाय ; किन्तु, संस्कृति में नारी का सहयोग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

सृष्टि-साधना का फूल है नारी ; मानव-साधना का फूल है संस्कृति।

फूल से फूल की शोभा है ?
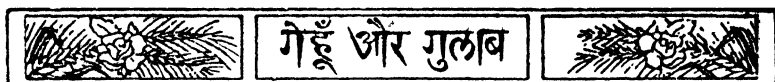
अपने गाँवों में, नगरों में हमें संस्कृति का जो समावेश करना है ; क्या वह बिना नारी के सहयोग के सम्भव है ?

अपने उजड़े गाँवों, नीरस नगरों को हमें सौन्दर्य्य और सङ्गीत से ओत-प्रोत कर देना है, नृत्य और वाद से मुखरित और गुञ्जरित कर देना है।

हमें ऊसर में फूल खिलाना ह ; ध्वस पर कञ्चन-मन्दिर स्थापित करना है।

अंधेरे घर में अखण्ड ज्योति जलानी है।

क्या, यह सब विना नारी के सम्भव है ?

किन्तु नारियों को तो अट्टालिकाओं ने घेर रखा है। अभिभावकों ने दबोच रखा है। फिर क्या हमारे ये स्वप्न, स्वप्न ही रह जायँगे ?

हाँ, स्वप्न, स्वप्न रहेंगे, यदि हमारी मीराओं ने मीरा का अनुकरण नहीं किया।

वंश-मर्यादा, पातिव्रतधर्म—सबकी कीमत है, बड़ी कीमत है !

इनकी रक्षा होनी चाहिए। समाज की पुकार, कला की पुकार, मीरा की पुकार, उससे भी अधिक कीमत रखती है !

सिसौदिया के सूर्य्य को आँखें तड़ेरने दो, राणा के क्रोध को आँखें बरसाने दो।

तुम अपने सङ्गीत और नृत्य से राजभवन को भर दो, राजधानी को भर दो ! फिर चित्तौड़ से वृन्दावन और वृन्दावन से द्वारका तक के डगर-डगर को भर दो।

तुम्हारे घुँघरू की झंकार, इनके धिक्कार और प्रहार को प्रशंसा और प्रणति में परिणत करके रहेगी !

कल की मीरा अमर हुई, आज की मीराएँ भी अमर रहेंगी !

कल की मीरा की जय ! आज की मीराओं की जय !

गाओ, नाचो—पग घुँघरू बाँध, मीरा नाचे रे, मीरा नाचे रे !

डोमखाना

बाप रे, मरे रे !

एक हल्ला। सारा महल्ला सड़क पर निकल आया। सामने हरखुआ पड़ा है। सिर से खून की धारा चल रही है। चेहरा, बदन, कपड़े—सब खून से तर हैं !

बाप रे, मरे रे !

यह क्या हुआ ? यह किसने किया ? जमादार ने मारा होगा ! जमादार है या कसाई ? और, उसने समझ क्या रखा है ? पुराना जमाना लद गया। रिक्सा लाओ, थाने ले चलें। बदमाश को सबक सिखायेंगे !

हाँ; हाँ, आप बहुत ठीक कह रहे हैं ! ओ रिक्सा ! रिक्सा ! कई लोग पड़ाव की ओर दौड़े जा रहे हैं ।

बाप रे, मेरे रे !

इसकी डोमिन कहाँ है—सुहगिया ! ओ सुहगिया ! सुहगिया को बुलाओ भाई ! कहो, कहो—थोड़ा पांनी लेती आवे ! जमादार ! साला कसाई ! बच्चू को जेल न भिजवाया, तो मेरा नाम नत्थू नहीं ! सुहगिया, ओ सुहगिया !

पानी ? —इसे पानी नहीं, जहर दूँगी । आँधी-सी सुहगिया आई ! हाथ में 'दाव', जिससे खून चू रहा—दर्शकों को चीरतें हरखुआ के नजदीक पहुँची ।

बाप रे, मेरे रे !

तूने इसे मारा हैं ? —एक सज्जन उसके दाव की ओर देखते हुये बोलते है !

अभी तो सिर पर मारा है—अबकी इसकी गर्दन काट लूँगी । निगोड़ा, दिन भर बैठा रहता है और मेरे बटुए से पैसा चुराकर

ताड़ी पीता है और उल्टे मुझी पर दाव चलाने आया था ! उठ रे, उठ !

सुहगिया ने हरखुआ का हाथ पकड़ा। खींचा। वह लड़-खड़ाता उठा। उसे घसीटते हुए, वह डोमखाने की ओर चली। दर्शक एक-दूसरे का मुँह देख रहे थे !

तब तक एक नौजवान देशभक्त रिक्सा लेकर पँहुच चुके थे। जैसे एक बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हों, वह तमक कर बोले—कहाँ गया वह ?

'वहाँ, उस तरफ !' डोमखाने की ओर उँगली उठाई—और, सब ठट्ठा मार कर हँस पड़े।

चक्के पर

हड़हड़ करती मोटर गण्डक के किश्तीनुमा पुल को पार कर रही थी। एक बच्चा, गण्डक के किनारे बैठा, आम चूस रहा था। हड़हड़ सुनकर उसका ध्यान पुल पर गया और उसने देखा उसके ड्राइवर काका मोटर लिए आ रहे हैं।

ड्राइवर काका—एक सेकेण्ड में ही ड्राइवर काका के अनेक स्नेह-चित्र उसकी आँखों के सामने नाच उठे—चुमकार रहे हैं, लेमनचूस दे रहे हैं, कन्धे पर ले रहे हैं······

एक हाथ में गुठली और एक हाथ में छिलका लिए, मुँह में आम के रस को कण्ठ के नीचे उतारते और होंठ और गाल पर पीला रस चहबोचे वह ऊपर दौड़ा और चिल्लाया—का-का······

ड्राइवर काका की गाड़ी पुल पार, अब ऊपर चढ़ने पर थी। काका के पैर एक्सलेटर पर जमे थे और हाथ स्टीयरिंग ह्वील पर नाच रहे थे। मोटर जोर से आवाज करती हुई सर से ऊपर दौड़ी।

बच्चा अब पुल पर था, वह चिल्ला उठा—का··का··· का··का।

किन्तु, वह बेचारा क्या जानता था कि जब आदमी चक्के पर होता है, गति में होता है, ऊपर चढ़ने और आगे बढ़ने की होड़ा-होड़ीमें होता है, तब इधर-उधर मुँड़कर देखना भी अपराध हो जाता !

ड्राइवर काका के कान ने कुछ सेकेण्ड पहले एक क्षीण स्वर अनुभव किया था ; किन्तु, वह स्वर मूर्त्त नहीं हो पाया था और अब तो वह मोटर की अति क्षिप्र गति में लीन हो चुका था।

मोटर सर-सर सर-सर भागी जा रही थी—अगल-बगल के अनेक स्वरों को योंही कुचलती, दबाती, दबोचती।

रोपनी

हमारा देश कृषि-प्रधान है। खेती पर ही यहाँ की श्री-सम्पन्नता निर्भर करती है। खेती में अच्छी फसल आई, हमारे देश में सुख आया, आनन्द-उत्साह आया। खेती मारी गई, चारों ओर मुर्दनी ही मुर्दनी—सूखे चेहरे, झिपकती आँखें, डगमगाते कदम। कृषि में वृद्धि, देश में उन्नति। हमारे राष्ट्र-रथ की धुरी है कृषि, कृषि।

कृषि की प्रत्येक क्रिया हमारे यहाँ त्योहार है··जुताई, कोड़ाई, पटाई, रोपनी, निकौनी, कटनी··सब के साथ हमारे हृदय की भावनाएँ गुथी हैं। हाथ-पैर काम करते हैं जरूर, लेकिन इन क्रियाओं के अवसरों पर सिर्फ हाथ-पैर चला कर ही हमें सन्तोष नहीं। ऐसे मौकों पर

हम गाये बिना रह नहीं सकते··खेतों में, खलिहानों में, आरों पर, डरेड़ों पर हम अपना हृदय निकाल कर रख देते हैं !

इन क्रियाओं में रोपनी का महत्त्व बिहार में सब से अधिक है। धान की खेती हमारे यहाँ सब से बड़ी खेती है। और धान की खेती की सब से बडी महत्त्वपूर्ण क्रिया है रोपनी !

और, रोपनी के लिए समय भी कितना सुहावना आषाढ़-सावन के दिन। आसमान में काले-काले बादल उमड़ रहे हैं। चारों ओर हरियाली ही हरियाली है। तालाबों में मेढ़क बोल रहे हैं। काली फिजा में उजले-उजले बगले उड़ रहे हैं। जब-तब रिमझिम वर्षा हो जाती है। पृथ्वी से सुगन्ध-सी निकल रही है। मालूम होता है, सारे संसार पर इन्द्रजाल छाया हुआ है !

आइये, सिंहेसर चाचा के दरवाजे पर का जरा दृश्य देखें···

सिंहेश्वर——ओ, कुनकुन, कुन कुन ! कहीं के कुनकुनमा !—बैल को दाना दिया कि नहीं ! मंगर ! मंगर—अब तक मंगर कहाँ सोया है ? सरजू, तुम देखते क्यों नहीं सरजू, आज नासी में रोपनी है, और तुम लोग निश्चिन्त पड़े हो !

सरजू—नहीं चाचाजी ! मैं तो अभी खेतों को देख कर आ रहा हूँ ! नासी में काफी पानी नहीं रह गया है। आज गोबराहा में रोपनी अच्छी होगी, चाचाजी ! कुनकुनमा—ओ कुनकुनमा··· ।

कुनकुन··जी, मालिक ! बैलों को दाना खिला रहा हूँ मालिक ! एक घड़ी रात थी, तब से ही बैलों को खिलाने में लगा हूँ मालिक ! कुट्टी काटी, नाँद भरे—देखिये, बैल तो अब अफर रहे हैं ! लेकिन मंगर का कहीं पता नहीं है—छोटे मालिक !

मंगर—"ढांसता हुआ" मंगर का पता नहीं है—चार दिन का छोकड़ा और तू चुगली करने चला है। दरवाजे पर रहता है, तो मालिक का मुँहलगा बना है ! बड़े मालिक, मैं खेतों को देखने गया था मालिक ! आज न नासी में रोपनी हो, न गोबराहा में··· आज नन्हकार में खूब पानी है बड़े मालिक। और बात रह गई मंगर की ही। क्योंकि मंगर सिर्फ हलवाहा ही तो नहीं है। वह तीन पुश्तों से इस घर का अन्नदाता है। ज्यों ही जवान हुआ, उसने हल पकड़ा और आज लगातार चालीस वर्षों से वह जोतता आ रहा है। वह सारे खेतों के रग-रेशे से परिचित है।

गेहूँ और गुलाब

मंगरू हल लिये जा रहा है नन्हकार में, आगे-आगे बैलों के जोड़े को कुनकुनमा हहकारे जा रहा है। सरजू भैया भी साथ हैं—बिना गृहस्थ की कहीं खेती होती है? उधर सिंहेसर चाचा औरतों के एक झुण्ड को लेकर बीया उपारने को बीहन—खेत की ओर चले। सुनिये, जाती हुई वे गा रही हैं—

कहंमा लगइहौं मैं जूही-चमेली,
कहंमा लगइहौं अनार हे.....
नारियर के गछिया।

दुअरे लगइहौं मैं जूही-चमेली,
अँगने लगइहौं अनार हे,
नारियर के गछिया।

कै फूल फूले जूही-चमेली,
कै फूल फूले अनार हे,
नारियर के गछिया॥

दस फूल फूले जूही-चमेली,
दुई फूल फूले अनार हे,
नारियर के गछिया।

केहिं सखि चिखलन जूही-चमेली,
केहि सखि चिखलन अनार हे,
नारियर के गछिया।

देवरा छयला चिखे जूही-चमेली,
सइयाँ रंगीला अनार रे,
नारियर के गछिया।

उधर बीहन के खेत में झूमर हो रहा है, तो इधर हलवाहों ने रोपनी के खेत में बिरहा की टेर लगाई···

एक ने कहा—

आम के गाछ कोइलिया कुहके,
बनमा में कुहकए मोर।
मोरा अँगना में कुहकए सोना के चिड़इया,
सुन हुलसे जिया मोर!

दूसरे ने कहा—

तलवा झुरइले कमल कुम्हलइले,
हंस रोवे बिरह बियोग!

रोवत बाड़ी सरवन केरी माता,
के काँवर ढोइहें मोर ।

तीसरे ने कहा—

बने-बने गइया चरौले कन्हैया,
घरे-घरे जोरले पिरीत ।
अनका गोरिया के सान मारि अएले,
आखिरो त जात अहीर ।

सिंहेश्वर चाचाजी के आँगन में भी आज कम कोलाहल नहीं है । इतने जन-मजदूरे, इतनी जनी-मजदूरिने—इन सब के लिए कलेवा का प्रबन्ध करना ही है । आज पहली रोपनी है । आज कुछ अच्छी चीजें खिलानी चाहिये··लोगों के मुँह मीठे करने पड़ेंगे, तभी भगवान हमारा मुँह मीठा करेंगे । दलही पूरी बने और खड़े दूध की तस्मई । जाँता चलने लगी । आसमान में बादल का स्वर, आँगन में जाँता के स्वर में कोकिल-कण्ठी का स्वर—

बेरि-बेरि तोहें बरजूँ हे बाबा,
आरे पच्छिम धिया जनि लाऊ ।

पच्छिम के लोग निरमोहिया ए बाबा,
ऊलटि पलटि दुख देई ।
रतिया पिसावे जौ-गेहुआँ ए बाबा,
दिनमा कतावे झीन सूत ।
सुतले सेजियवा उठावे ए बाबा,
अरे अँगना घरे सब छूँछ ।
जेठ-बइसाख केरि तलफी भुभुरिया
धनिया जइहें कुम्हलाई
अँगने में कुइयाँ खना द ए बबुआ,
रेसम के डोरिया लगाई !

इधर आँगन में पूरी-तस्मई बन गयी । बीहन के खेत में काफी बीझा उखाड़ लिया गया । रोपनी के खेत की जुताई पूरी हो गयी । गृहस्थ-मजदूर सब-के-सब घर लौटे । मालिक के घर में ही खाना-पीना हुआ । खाना-पीना क्या कहिये, पूरी कचरकूट !

कुनकुन—मंगर काका, कहिये, कितनी पुरियाँ उड़ीं !

मंगर—अरे, क्या बकबक करता है, अभी-अभी तो सोरही पूरी हुई है ! बस, आधी सोरही और !

कुनकुन—और खीर का तो कठौत ही खाली कर दी आपने काका जी! उफ, बूढ़े हुए लेकिन गौंत कम नहीं हुई।

मंगर—अरे, तुम्हारी तरह कलजुगहा हैं··देख यह हाथ की फट्टी—हाँ, हाँ।

सिंहेश्वर—मंगर, कुनकुनमा को बोलने दो, तुम खाये चलो। तुम्हारा पेट भरेगा तभी हमारा खेत भरेगा, मंगर!

सरजू—और इस बाटी में सुहागिया के लिए भी पूड़ी-खीर लेते जाना मंगर।

खाने-पीने के बाद थोड़ी देर तक सुस्ता लिया गया। फिर रोपनी के खेत में यह पूरा मजमा पहुँचा। स्त्रियों की उमङ्ग का क्या कहना? पाँत बना कर वे खेत में रोपनी कर रही हैं। रोपते-रोपते बीच में एक-दूसरे की देह पर कीचड़ के छींटे डाल देती हैं··पानी उलीच देती हैं। बूढ़े मंगर की तो सबने मिल कर बड़ी दुर्गत बना दी है। कीचड़ से वह बेचारा भूत बना हुआ है और रह-रह कर गालियाँ बोलने से भी बाज नहीं आता। किन्तु इन रोपनी करनेवाली औरतों को इन गालियों की क्या परवाह? वे खिलखिला कर हँसती हैं और मानो मंगर को चिढ़ाने के लिए ही गाती हैं—

नइहरवा में ठण्ढी बयार,
ससुरवा मैं न जइहों।
ससुरा में मिले ला जउआ की रोटी
मँडुआ की रोटी,
नइहरा में पूड़ी हजार।
ससुरवा मैं ना जइहों! नइहरवा०

ससुरा में मिले ला साग सतुइया,
नइहरा में धाने के भात,
ससुरवा ना जइहों। नइहरवा०

ससुरा में मिले ला फटही लुगारिया,
काली कमरिया,
नइहरा में सोलहों सिंगार
ससुरवा ना जइहों। नइहरवा०

ससुरा में मिले ला लात औरु मूका,
नइहरा में मीठी-मीठी बात
ससुरवा मैं ना जइहों। नइहरवा०

बीच-बीच में पुरुषों का समूह चाँचर और बारहमासा गाता रहा। सन्ध्या हुई, रोपनी करके सब-के-सब हँसते-गाते घर पहुँचे!

रोपनी में किसानों के सामूहिक जीवन का बहुत अच्छा दिग्दर्शन होता है! प्रायः कई किसान मिल-जुलकर रोपनी करते हैं। जिसकी ताक रही, सबने उसकी मदद की। नहीं तो फिर सबकी ताक बिगड़ जाय।

हमारे देश की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ मिट्टी से घृणा करने लगी हैं। रोपनी तो कीचड़ और मिट्टी से सनी हुई क्रिया है न! किन्तु, एक जमाना आयेगा, जब हमें मिट्टी से घृणा करने की यह आदत छुड़ानी पड़ेगी! उस दिन रोपनी और रङ्गीन बन जायगी। नये गीत होंगे, नये कंठ होंगे, नये स्वर होंगे! हर खेत की मेंड़ पर तब गाता हुआ इन्द्रधनुष हम पावेंगे··वह दिन निकट आवे!

पनिहारिन

दुनिया को पानी पिलाती हूँ ; किन्तु, स्वयं प्यास से मरती हूँ ।

जब मैं सिर पर गागर लेकर चलती हूँ, लोग कहते हैं—रस छलकने लगता है । किन्तु, मेरा रिक्त हृदय जो हाहाकर मचाये रहता है, यदि कोई उसे देख पाता ; यदि कोई उसे सुन पाता !

न जाने, पहले-पहल, कब यह घड़ा सिर पर पड़ा—न जाने कब यह उतरेगा !

हाँ, धुधली-सी याद तो है ।

माँ की आँचल पकड़, पहली बार, कूप की ओर चली और जिद-पर जिद की, तो उसने छोटी-सी ठिलिया मेरे लिये भी मोल ले दी ।

सचमुच, उस दिन मेरे उस छोटे-से घड़े से रस छलका था।

मेरी लाल चूनर भींग गई थी!

किन्तु, आज?

और, आगामी कल तो अभी आने को है, जब कि बुढ़ापा मेरी कमर तोड़ देगा; किन्तु, मुझे सिर पर घड़ा ढोना ही पड़ेगा।

क्योंकि इस घड़े ने मेरे सिर से ही नहीं, मेरे पेट से अटूट नाता जोड़ रखा है। सिर पर जिस दिन गागर न हो, उस दिन इस पापी खड्ड में ईंट-पत्थर कहाँ से पड़ेंगे?

× × ×

मेरे सिर पर पानी का घड़ा है, मेरी छाती पर अमृत के कलशे हैं।

मेरा थका-माँदा 'मालिक' तालाब या नदी का गँदला जल कहीं चुल्लू से भरकर पीता होगा—मैं दिन-रात सिर पर पानी से भरा पीतल का सुन्दर घड़ा ढोती हूँ।

इन अमृत-कलशों पर किसकी आँखें गड़ी हैं? वह उस दिन क्यों घूर-घूरकर देख रहा था इस ओर?

मेरा प्यासा मालिक, किसी पासिन के मटके पर, दीवाना होगा; मेरे अमृत-कलश को ये क्यों लूटना चाहते हैं?

आह! सचमुच ये अमृत-कलश हैं। जिनसे मेरे जीवन भर की सञ्चित जीवन-सुधा, उजला रस बनकर, सुफेद-सुफेद, प्राणदा जीवनमयी रसधार बन कर निकल पड़ी!

उस दिन मेरी सूनी गोद में 'गोपाल' किलके थे।

किन्तु, यह 'गो' तो इस गोपाल के लिए नहीं है!

जो मेरा पानी पीता रहा है, उसका बच्चा ही मेरे अमृत-कलश का सुधा-रस पीयेगा!

मेरे गोपाल तड़पते हैं; किन्तु, मैं क्या करूँ? इस अमृत-कलश का सम्बन्ध भी तो मेरी उदर-दरी से है, जिसे भरने के लिए रोज एक मुट्ठी अन्न चाहिए!

मेरे सिर पर गागर है, आँखों में काजल है; पीले वस्त्र पहन कर घर से निकली।

वह छैला गुनगुना पड़ा—'सिर पर घड़ा लिए पनिहारिन!'

न जाने, क्यों मेरे घड़े में रस छलकने लगा। मेरी उदासीन आँखों में न जाने कहाँ से तिरछी चितवन आ गयी?

इस पीली साड़ी के रंग ने मेरे हृदय को गुलाबी बना दिया।

काजल तेरा बुरा हो! मेरा समूचा जीवन काजलमय हो गया।

जिनके पेट के लिए एक मुट्ठी अन्न की व्यवस्था नहीं, उनके हृदय में प्रेम का यह पारावार क्यों लहरासा गया?

बूढ़े विधाता! तेरा सर्वनाश हो!

× × × ×

युग-युग से मैं गागर ढो रही हूँ; युग-युग तक मैं गागर ढोने के लिए बाध्य की जाऊँगी!

दुनिया में कुछ लोग बिना हाथ-पैर हिलाये, बैठे-बिठाये पानी पीते रहें, इसके लिए आवश्यक यह है कि कुछ लोग सदा गागर ढोते रहें!

माघ की भोर है—पछ्वा हवा पुरानी कुर्ती को छेद कर छाती की हड्डी तक हिला रही है, अङ्ग-अङ्ग सिकुड़े जा रहे हैं, किन्तु मुझे गागर ढोनी पड़ेगी, क्योंकि किसी को सुबह-सुबह कूप का गरमागरम पानी चाहिए।

जेठ की दुपहरिया—ऊपर से आग की वर्षा, तवे-सी जलती भूमि! किन्तु, मुझे गाँव से दूर की उस अमराई के कूप का ठण्ढा जल ढोकर उसे पिलाना ही पड़ेगा।

बरसात का अञ्जन-वर्ण निशीथ हो या शरद् की रजत राका—मेरे सिर पर गागर होगी, गागर, गागर! कहीं गीत हों या रुदन, कहीं ब्याह हो या श्राद्ध, कहीं ईद हो या मुहर्रम—मेरे सिर पर गागर होगी।

× × × ×

भगवान, मुझसे अब यह गागर ढोयी नहीं जाती—मेरी रक्षा करो।

या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो—
या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो—

हाँ, या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो, या अपनी इस विराट गागर—विश्व को फोड़ दो !

अन्तःसार-शून्य तुम्हारी इस गागर को बहुत देखा, बहुत परखा !

यह रहने लायक, रखने लायक नहीं है—नहीं है ।

इसे फोड़ दो ।

हाँ, या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो या अपनी इस विराट गागर को फोड़ दो ।

नहीं फोड़ोगे ?—तो यह एक दिन फूटेगी ही !

याद रखो—छोटी कंकड़ी की चोट से बड़ी-बड़ी गागरें फूट चुकी हैं ।

बचपन

बा—बा···बा-बा···बा—आ—आ···

यह ललनजी बोल रहे हैं ! सिर पर घुँघराले बालों के लट लटक रहे हैं। दोनों हाथ ऊपर उठा रहे हैं, जैसे इशारे से बुला रहे हों। उठ सकते नहीं, बढ़ने को हुमच रहे हैं।

बा—आ···बा—बा—बा···बा—आ···बा—बा···

ललनजी की बोली सुनकर महेन्द्रजी उनकी ओर बढ़े। दो बार चूमने की कोशिश की—किन्तु, मुँह से चुमकारी के शब्द तक निकाल नहीं पाते। फिर उनसे लिपट गये, गोद में लेने की कोशिश की। महेन्द्रजी के छोटे-छोटे हाथों में हमारा गुल्ला-थुल्ला ललन अँट नहीं

पाता। किन्तु, महेन्द्रजी गोद में लेंगे ही। छाती से चिपकाया—इतने जोर से कि ललनजी रोने लगे!

आँ—आँ··बा-बा-बा···मा··मा···

प्रभा रानी दौड़ीं—ओहो, मेरे बबुआ को मार दिया महेन्दर ने! महेन्द्र ने—लाल चाचा ने! महेन्द्रजी से छीनकर प्रभा ने ललनजी को गोद में ले लिया—"ओहो, लाल चाचा ने मारा है। मारा है मेरे बबुआ को! चुप, चुप रहिये—मैं महेन्द्रजी को मारती हूँ।" प्रभा ने महेन्द्रजी को मारने का स्वाँग किया। ललन चुप—किन्तु, महेन्द्रजी ने अपने को अपमानित बोध किया—वह फूटकर रो उठे!

और, यह जित्तिनजी दौड़े—अपनी साहबी पोशाक में! अभी-अभी कन्वेंट से पढ़कर आये हैं। टाई तक नहीं खोली है। प्रभा से छीनकर ललन को अपनी गोद में लिया। उनकी रंगीन रेशमी टाई को पकड़कर ललनजी खेलने लगे।—"किसने मारा था तुम्हें—इस प्रभा ने? पीटें प्रभा को?"

अपने भतीजे को यों अचानक गोद से छीने जाने के कारण प्रभा-रानी गुस्से में थीं। अब यह तुहमत! उनकी आँखों से झरझर आँसू झरने लगे!

इधर ललनजी मँझले चाचा की टाई पकड़े हुए कह रहे हैं—

बा--बा···बा--आ--बा···बा--बा--आ···

बाबा खाट पर सिर झुकाये स्केच लिख रहे हैं। बच्चों के कोलाहल में क्या कुछ लिखा जा सकता है ? हाँ, शब्द-चित्रकार हैं न ? इन चार अनमोल चित्रों को गौर से देख रहे हैं।

अब प्रभा की आँखें सूख चुकी हैं, महेन्द्रजी चहक रहे हैं, ललनजी किलकारियाँ दे रहे हैं और जितिनजी अपने थैले से कन्वेण्ट में बनाये अपने हाथ के करतबों को दिखला रहे हैं—

"बोलो प्रभा, यह क्या है ?"

"यह है गधा !"

"पगली, गधा नहीं, यह काबुली घोड़ा है !"

"भैयाजी, मुझे इस घोड़े पर चढ़ा दो !"—महेन्द्रजी बोल रहे हैं और जैसे घोड़े पर छलाँग मारने को अपने बदन को तोल रहे हैं।

"यह देखो, यह क्या है ?"

प्रभा की जबान तेज है ; फिर वह बोल उठी—"खरहा !"

"खरहा ? महेन्दर, तुम बताओ, यह क्या है ?"

अपने आगे के दूध-धोये दाँतों को चमकाते महेन्द्रजी कहते हैं— "चूहा !"

"हाँ, विलायती चूहा ?"

जित्तिनजी को अपने ज्ञान का गर्व था, महेन्द्रजी को अपनी जानकारी पर नाज हो आया ! प्रभा बेचारी जैसे अकेली पड़ गयी ! उसने अनुभव किया, उसके भाई उसकी अवमानना करने पर तुले हैं ! इतने में ललन ने विलायती चूहे का एक कान पकड़ कर खींच लिया !

जित्तिनजी का साहब गुस्से में आ गया ! उन्होंने ललन के हाथ से अपना विलायती चूहा छीनना चाहा । छीना-झपटी में चूहे का कान ललन के हाथों में रह गया । आग में घी पड़ गया ! जित्तिन अब अपना गुस्सा उतार रहे हैं ।

आँगन में कोलाहल है ! 'बाबा', 'भैया', 'दैया', 'मैया' हो रहा है ? चेहरों के तरह-तरह के भाव हैं ।

और, कुछ देर के बाद फिर चारों बच्चे एक साथ खेल रहे हैं—नौ महीने, चार वर्ष, सात वर्ष, दस वर्ष—सब मिल कर एक हो रहे हैं! कुछ वर्ष, कुछ महीने।

बाबा का स्केच पूरा हो रहा है; वह अन्तिम पंक्ति लिख रहे हैं—

"चञ्चलता चितवन वही, गति मति वही सुभाव,
अरी लरिकई बावरी, एक बार फिरि आव!"
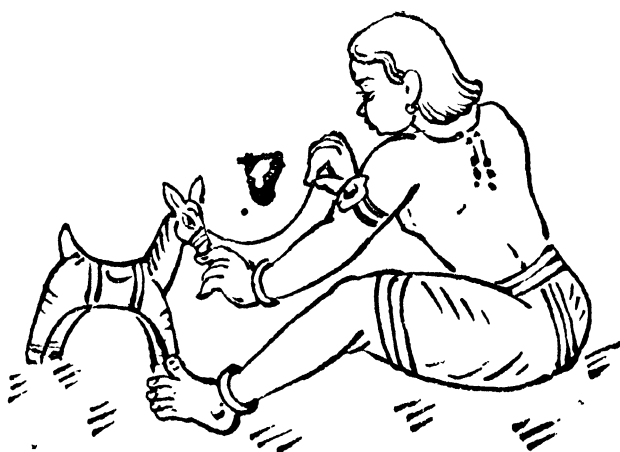
किसको लिख रहे हैं !

"यह किसको लिख रहे हैं आप ?"

छोटी लूची ने अपारीचित कहानी-लेखक से पूछा जो उसके बाप के बरामदे में बैठे, असह्य प्रतीक्षा से ऊबकर, तुरत दिमाग में आये हुए कहानी के प्लाट को अपने लेटर पेपर पर ही कलमबन्द कर रहे थे !

कहानी-लेखक की पेशानी पर शिकन उठ आये, वह मन-ही-मन झल्लाया—कहाँ से यह बच्ची आकर मेरे कल्पना-चित्र पर स्याही पोत रही है !

किन्तु, लूची माननेवाली नहीं। उसने कागज पर हाथ रख
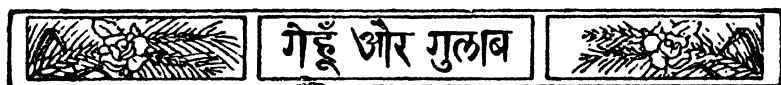
दिये और अधिकार के स्वर में बोली—"आप यह लिख रहे हैं किसको !"

कहानी-लेखक ने लूची के चेहरे को देखा—कैसी मासूम ? क्या कला-देवी का चेहरा भी कुछ ऐसा ही होगा ?

मजाक में उसने कह दिया—"तुम्हारी चाची को !"

"चाची को ? किस चाची को ? नई चाची को ?"

उसके छोटे चाचाजी ने तुरत शादी की थी—लूची ने सोचा, उससे बढ़कर लिखने की पात्र और कौन हो सकती है ?

"उहूँ, पुरानी चाची को ?"

"लाल चाची को ? विमला भैया की चाची को ? सुन्दरपुरवाली चाची को ?"

लूची ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी ।

कहानी-लेखक को लुत्फ आ रहा था ? लूची की आँखों की उत्सुकता और उत्कंठा के अध्ययन में लीन वह उहूँ, उहूँ करता जाता था ! लाल फ्राक और काले बालों के बीच गेहुएँ चेहरे पर चमकती

दो उजली मासूम आँखों में, वह कला-देवी को अब प्रत्यक्ष देख रहा था।

तब तक लूची के बाबूजी आ पहुँचे। ओहो आप? कब से इन्तजार कर रहे हैं आप? देर के लिए माफी···और लूची तू···

"लूची मुझसे कुछ पूछ·····?"

कहानी-लेखक आगे कुछ नहीं कह पाया; क्योंकि लूची के हाथ उसका मुँह बन्द कर चुके थे!

"क्या पूछ रही थी?"

फिर मुँह बन्द किया गया—लूची के छोटे हाथों में कितना आग्रह था, कितनी गर्मी थी?

"अरे, चाचाजी को यों तंग किया जाता है!"

"चाचाजी? क्या ये भी चाचाजी ही होते हैं?"—लूची की आँखें बल-सी उठीं! क्योंकि उसने रहस्य का पता जो पा लिया था! "समझी, समझी!"—कहती हुई वह खड़ी हुई और नाच उठी! उसके बाबूजी भौंचक थे—"क्यों नाच रही है पगली?"

"चाची को दिखला दोगे, चाचाजी!"—पगली लूची के दोनों हाथ कहानी-लेखक की गरदन में था! और कहानी-लेखक की आँखों के सामने आज सचमुच एक चाची खड़ी हो गई! अब तक वह अविवाहित था, उसने समझ रखा था, उसकी भारती ही उसकी सहचरी है; किन्तु आज लूची के प्रश्न ने उसे बताया, लिखने के लिए भी किसी की आवश्यकता है—किसको लिख रहे हैं आप?

एक महीने के अन्दर-अन्दर लूची अपने इस नये चाचा की नई चाची के नजदीक बैठी मिठाई खा रही थी!

छब्बीस साल बाद !

छब्बीस साल बाद उस दिन उसे फिर देखा था ।

पहले देखा था, जब वह जवानी की देहली पर खड़ी थी । उस दिन देखा, वह बुढ़ापे के दरवाजे को पार कर चुकी है ।

छोटा-सा ललाट, चाँद के टुकड़े-सा ! ऊपर सजल श्यामल मेघ-से बालों के लट ; नीचे काम के कमान-सी पतली, लचीली, नुकीली भौंहें । आँखों में खुमार ; गालों पर गुलाब । सुन्दर पतली नाक—जब वह पतले अधरों को खोल, दानेदार दाँतों को जरा-सा चमकाकर, बोलती, मालूम होता, नाक उसमें सुरीलापन भर रही ! स्वस्थ अर्द्ध-स्फुटित यौवन ! कैसी मोहक थी वह, उसकी काया, उसकी बातें, उसकी चाल !

शरीर में जवानी ; हृदय में बचपन। भोलेपन में वह कुछ कह जाती, जिसका मानी भी नहीं समझती। "मुझे भी अपने साथ ले चलिए न ?" "क्या मैं बहुत ख़ूबसूरत हूँ ?" "देखिए तो इस पत्र में उसने क्या लिखा है ?"

पत्र पढ़कर मैंने कहा—"इसका अर्थ समझा ? तुम्हें कैसे मिला यह पत्र ?" और मैं गुस्से में था।

"मैं उस दिन फुलवारी से लौट रही थी, रास्ते में पड़ा पाया ! मैं अब रोज उस रास्ते जाऊँगी, बेचारा तड़पता जो है ?" सचमुच उसके चेहरे पर दया के भाव थे !

उसकी भी शादी हुई ; मेरी भी। उसने एक दिन पूछा—"आपकी पत्नी कैसी है ?" "तुम्हारी-सी तो नहीं ; उस लड़की ऐसी—वह !" "नहीं नहीं, आप झूठ कह रहे हैं—भगवान जोड़ा मिलाना नहीं जानता !"

इस अन्तिम वाक्य का अर्थ समझ मैं दुखित हुआ। उसके पति उसके योग्य नहीं मिले थे। सिर्फ़ धन देखकर शादी कर दी गयी थी उसकी ! लेकिन, उसे क्या हक था, कि मेरी पत्नी के बारे में भी वह कुछ वैसी ही भावना रखे !

किन्तु क्या सचमुच उसे कोई हक नहीं था ?

नहीं, नहीं उसकी चर्चा फिजूल ! हमारे समाज में ऐसा ही होता आया है। मन लगा 'क' से, शादी हुई 'ख' से। किसी तरह समन्वय हुआ, तो खैर ; नहीं तो ट्रैजडी !

और २६ वर्ष के बाद वह साकार ट्रैजडी-सी मेरे सामने खड़ी थी !

ललाट पर शिकन, गाल पर सिकुड़न। बालों में वृद्धता ठठा-ठठाकर हँस रही। कमान टूट चुका था ; खुमार उतर गया था। शरीर एक गुमसुम रूई के गट्ठर-सा ! नाक कह रही थी, बड़ी मुश्किल से मैंने नाक रखी है इसकी। अधरों पर न लाली ; दाँतों में न चमक ! अल्हड़पन की चिता पर संजीदगी खड़ी थी !

पति को शरीर दिया ; दिल न दे सकी। कैसे देती—वह पहले ही किसी को दिल दे चुका था, जो उसके सामने बन्दरी थी। किन्तु, बन्दर को तो बन्दरी ही भावे ? तो भी किस संयम से उसने जवानी काट दी है, यह उसके चेहरे की सौम्यता कह रही थी !

बहुत दिनों तक हिस्टिरिया से परीशान रही। एक सन्तान हुई, वह भी न रही। तब से गोद न भरी। अब उसी पति की दूसरी शादी कराकर, उसके बच्चे को गोदी में खिलाती माँ का ममत्व निछावर कर रही है।

"यही मेरा बेटा है, उस घर से।" उस घर से—मेरा बेटा! किन्तु उसकी आवाज में कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। एक जगह पहुँचकर अस्वाभाविकता भी स्वाभाविक-सी बन जाती है न?

और दूसरे ही क्षण प्रश्न—"आपके तीन बेटे हैं न? और एक बेटी। बेटी कितनी बड़ी है?" और जब तक मैं जवाब में कुछ कहूँ, बोली—"अपनी 'रानी' से मुलाकात नहीं करा दीजिएगा?"

और फिर उलहना—

"मर्द भी क्या होते हैं? कभी चिट्ठी भी नहीं भेजते—अपना फोटो भी तो भेज दिए होते? और पढ़ना-लिखना तो छूट ही गया है, अपनी कुछ किताबें जरूर भेज दीजिएगा। याद है? आपने कहा था—पढ़ना-लिखना नहीं छोड़ना।"

मुझे उस समय क्या-क्या नहीं याद आ रहा था। हम दोनों का साथ-साथ उठना-बैठना; जब मैं सख्त बीमार पड़ा, उसका रात-रात भर जागना; जब मैं घर जाने को तैयार होता, उसका उदास विषण्ण चेहरा लेकर खड़ा हो जाना, उसकी माँ का कहना—लेते जाओ इसे भी! मैं तिलक-दहेज से भी बच जाऊँगी। फिर उसका-विषादमय विवाह। जब दुल्हे को देखा, माँ रो उठी; माँ की गर्दन पकड़ यह चिल्ला उठी। किन्तु, पिताजी की इज्जत का प्रश्न! शादी होकर रही!

शादी के कुछ दिनों के बाद जब उसे देखा, वह बिल्कुल बदल चुकी थी। मैं उसकी मर्मव्यथा समझता था। उसे समझाया-बुझाया। नारी-धर्म बतलाया। वह कुछ आश्वस्त हुई।

किन्तु, क्या ट्रैजडी को सुखान्त में परिणत किया जा सकता है? छब्बीस साल बाद वह साकार खड़ी थी!

बस, पाँच-छः मिनट की यह मुलाकात। मैं कार्यों में व्यस्त; वह प्रतिष्ठा की जञ्जीर में बँधी। मैं तब से फिर एक पत्र नहीं भेज सका हूँ, न फोटो, न पुस्तक। सोचता हूँ; भूलता हूँ; एक बार

पुस्तक लेकर उसके घर के निकट से लौट आया। सोचा, जो घाव भर चुका, उसे कहीं फिर मैं कुरेद न दूँ ?

यह मानव क्या है ? उसके हृदय में क्या-क्या छिपे हैं ? जो-जो भावनायें, कामनायें, वेदनायें हमारे हृदयों में गड़ी पड़ी हैं, यदि वे कभी बोल उठतीं ! उफ, सारा संसार रुदन से ओतप्रोत हो जाता, आँसुओं की बाढ़ में बह जाता, विलीन हो जाता !

पहली वर्षा

दुपहरिया में मैं सोया था—पटना की गर्म हवा के झोंकों से बचने के लिए घर के सारे किवाड़ बन्द करके ! अचानक नींद टूटी— देखता हूँ, घर का बिजली-पंखा बन्द है और बाहर शोर मच रहा है—जैसे आँधी हो । दरवाजा खोला—ओहो, खूब वर्षा हो रही है !—यों कहिए कि आँधी और वर्षा दोनों ।

बड़ी-बड़ी बूँदें । पेड़ों की डालें पेंगें ले रही हैं । कच्चे आम टूट-टूटकर गिर रहे हैं ।

इस साल की यह पहली वर्षा है ! पहली वर्षा के साथ क्या आँधी का होना अनिवार्य है ? और जिनकी डंटलें पुष्ट हैं, वे वर्षा

से रसीली बन जायँ, उसके पहले क्या कुछ कमजोर डंटलवाले आमों का गिर पड़ना लाजिमी है ?

वर्षा समाप्त हुई—झोंकों के साथ जो आई थी, वह झोंके में ही गई। आस्मान में छिटपुट बादल के भूरे टुकड़े उठ रहे हैं। जमीन से सोंधी गन्ध निकल रही है। और ये आम के पेड़—तुरत-तुरत नहाकर खड़ी दुल्हन-सी लग रहे हैं! शाम की सुनहली किरणें इनके पत्तों पर कैसा चमचम कर रही हैं!

वर्षा के बाद पेड़ों की शोभा देखते मैं कभी नहीं अघाता। पढ़ा था, कवि सत्यनारायण को बी० ए० की परीक्षा देनी थी। परीक्षा के समय के कुछ पहले वर्षा हो गई। बेचारे के मन में, पेड़ों की धुली-धुलाई पत्तियों को देखते ही, कविता उमड़ आई। उधर परीक्षा के पर्चे बँट रहे थे, इधर आप कविता की पंक्तियाँ-पर-पंक्तियाँ लिखते चले जा रहे थे!

सचमुच वर्षा के बाद पेड़ों की शोभा अनुपम हो उठती है। धूल के कण-कण धुल जाते हैं। गर्मी के बाद शीतलता पाते ही उनका हरा रंग निखर पड़ता है। पत्तियाँ हँसती-सी मालूम पड़ती हैं। यदि उन पर सूर्य्य की किरणें तब पड़ने लगें, जब तक कुछ बूँदें

उन पर इधर-उधर लिपटी हैं, तो फिर क्या कहना ? और यदि वे किरणें सन्ध्या की हुई ? अहा ! गिरा अनयन नयन बिनु बानी ?

पटना का मेरा यह घर भी क्या अनोखा है। सामने आम के कितने घने पेड़ हैं। केले भी हैं। कुछ और पेड़ भी हैं। शहर में रहकर भी शहर से दूर ! नगर में रहकर भी प्रकृति की गोद में। इन आमों को देखकर ही एक मित्र ने कहा था—अम्बपाली के लेखक के उपयुक्त ही यह स्थान है।

आज प्रथम वर्षा की इस पहली सन्ध्या को आम की हर डाली अम्बपाली बन गई है ! वह गुनगुना रही है, मुस्कुरा रही है, अँगड़ाइयाँ ले रही है, उगालियों से इशारे कर रही है और लगता है, कहीं वह एकाएक नाच न उठे—छमछम !

लागल करेजवा में चोट !

"लागल करेजवा में चोट !"

रेडियो में यह गीत हो रहा है ! बचपन से ही यह गीत सुन रहा हूँ—गाँव के छोकरों के मुँह से, शहर के छैलों के मुँह से ; गवैयों से, उस्तादों से ; ग्रामोफोन पर, रेडियो से ! कर्कश स्वर में, कोकिल-कंठ से । लेकिन हमेशा यह अच्छा ही लगा !

नूतनं नूतनं पदे पदे—काव्य की यह परिभाषा है ! क्या इस छोटे-से गीत में काव्यत्व भरा है !

यह किस कवि की अमर रचना है ? पहले-पहले यह किस सौभाग्यशाली के कंठ से निःसृत हुआ ?

गेहूँ और गुलाब

ग्रामीण बोली के ये सीधे-सादे साढ़े तीन शब्द—विभक्ति को आधा शब्द मान लिया जाय तो। किन्तु किस तरह इनका संगठन हुआ कि ये संगीत बन गये और ज्योंही, जितनी बार उच्चरित होते हैं, कलेजे में घर कर लेते हैं !

लागल करेजवा में चोट !—किसके कलेजे में कोई चोट कभी नहीं लगी। ये साढ़े तीन शब्द जीवन के एक परम सत्य को सीधे-सादे ढंग से कह गये हैं, इसीलिए इनमें यह मोहकता है, मनोरंजकता है, हृदय को आकृष्ट करने की ऐसी क्षमता है !

जीवन के परम सत्य को सीधे-सादे ढंग से कह जाना—क्या कला की सबसे बड़ी सार्थकता नहीं है ?